माध्यम

वर्ष २ : अंक १२

अप्रैल १९६९

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग



अप्रैल १९६६

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

वर्ष २ : अंक १२
पूर्णांक : २४

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैंकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बॉक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति ; एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

कविता

कहानी, लघुकथा

माध्यम

का

अंक २५

बहुप्रतीक्षित

केरल विशेषांक

विविधा

विवेचना

गोष्ठी-प्रसंग

समीक्षाएँ

●●

आवश्यक निवेदन

प्रकाशनार्थ स्वीकृत सामग्री के आधिक्य के कारण हमें अनेक बार अपने एकाधिक स्थायी स्तंभों को रोकना पड़ा है। पाठकों ने देखा ही है कि तीन अंकों में 'विवेचना' का स्तंभ नहीं गया। 'सहवर्ती साहित्य' के स्तंभ के बिना भी कुछ अंक निकले हैं और यही स्थिति 'प्रतिपत्तिका', 'विविधा' और 'हिंदी जगत' शीर्षक स्तंभों के विषय में भी है। अब हमें प्रकाशनार्थ स्वीकृत रचनाओं की पंक्ति के विस्तार को देखते हुए विवश हो कर पूर्वस्वीकृत सामग्री के प्रकाशन को प्राथमिकता देने का निर्णय करना पड़ रहा है। फलतः कुछ समय तक किसी भी अंक में एक से अधिक स्थायी स्तंभ न दिया जा सकेगा।

पुस्तक-समीक्षाओं पर इस निर्णय का कोई प्रभाव न पड़ेगा।

—संपादक

नवलकिशोर

धर्म बनाम मानववाद

मानवता की तरक़्क़ी में मजहबों ने बहुत मदद की है; उन्होंने चीज़ों की क़ीमत तय की है, मापदंड बनाये हैं और ज़िंदगी में रास्ता दिखाने वाले उसूलों को बताया है। लेकिन जो कुछ भलाई उन्होंने की है, उसके साथ ही ख़ास शक्ल या पक्के यक़ीनों में उन्होंने सत्य को क़ैद करने की भी कोशिश की है। जिज्ञासा और विचार को बढ़ावा देने की जगह उसने प्रकृति के सामने, स्थापित संप्रदाय के सामने और सारी मौजूदा व्यवस्था के सामने सिर झुकाने के फ़लसफ़े का प्रचार किया है।[1]

सामाजिक विकास के आरंभ से धर्म ही नैतिक धारणाओं का उत्स था। उसने मनुष्य को सामाजिक हितों के लिए वैयक्तिक स्वार्थों के बलिदान को प्रेरित किया और प्रेम, सहानुभूति, करुणा आदि भावनाओं को बद्धमूल कर मानव-मूल्यों की आधारशिला रखी। सभी महान धर्म-प्रवर्तक मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर ही प्रवचन-प्रवृत्त हुए थे। विभिन्न धर्म-मतों को उचित सम्मान दिये बिना न इतिहास बोधगम्य है और न उन सांस्कृतिक आंदोलनों को हृदयंगम किया जा सकता है, जो विशिष्ट धार्मिक विचारों के प्रभाव में विकसित हुए। सभ्यता के विकास में धर्म का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है।[2] पश्चिम में पुनरुत्थान के बाद धर्म का सर्वव्यापी प्रभुत्व समाप्त होने लगा और विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास से उसका प्रभाव क्षीण होता गया। भारतीय नवजागरण में धार्मिक नवोन्मेष मिलता है, पर आगे चल कर पाश्चात्य वैज्ञानिक विचारों एवं मानववादी दर्शन का प्रभाव भारतीय चिंतनधारा पर भी पड़ा।

मानववादी आस्थाओं और धर्म के प्रचलित विधि-निषेधों के बीच विगत युगों में सदा संघर्ष हुए हैं, किंतु बहुत से आधुनिक धर्म-चिंतन मानववाद और धर्म की सहधर्मिता का प्रतिपादन करते हैं।[3] वे यह नहीं मानते कि धर्म का संबंध केवल मनुष्य के पर-लोक के कल्याण से

---

१. हिंदुस्तान की कहानी, अनु० : हरिभाऊ उपाध्याय।

२. लिटरेचर एंड वेस्टर्न मैन, पृ० ४४४-४५।

३. धार्मिक मानववादियों के एक वर्ग ने १९६३ में एक १५ सूत्री मानववादी घोषणा-पत्र प्रकाशित किया था। उसके सूत्र निस्संदेह मानववादी आस्थाओं को व्यक्त करते हैं, लेकिन जैसा कि कार्लिस लेमाँ का कहना है, उन्हें प्राचीन और पवित्र धर्म शब्द के अपरित्याग का औचित्य सिद्ध करना चाहिए था।

है और इस लोक के कल्याण के प्रति वह उदासीन है। वे यह भी अस्वीकार करते हैं कि शाश्वत जीवन की खोज में धर्म नश्वर का निरादर करता है। न वे यह मानते हैं कि त्याग एवं तपस्या को गौरव देने का अर्थ पलायन-वृत्ति को प्रश्रय देना है और न यह स्वीकार करते हैं कि धर्म मनुष्य को निष्क्रियता या निरीहता की सीख देता है। उनकी मान्यता है कि सामाजिक आदर्शों और मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा धर्म के आधार पर ही संभव है--**सच्चा धर्म सामाजिक आदर्शवादियों से इस बात में सहमत है कि शाश्वत जीवन इसी पृथ्वी पर उपभोग्य है। मानव-प्रेम ईश-वंदना के तुल्य ही धर्म का मूलाधार है। हमें अपना विकास इस जीवन के ही माध्यम से इसे अतिक्रांत करते हुए करना है। सामाजिक आदर्शवादी आदर्श और यथार्थ के वैषम्य में--दो विरुद्ध विश्व-व्यवस्थाओं के असामंजस्य में विश्वास करते हैं जब कि उनकी एकता सब धर्मों का सार-तत्व है।**[1]

धर्म के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यह है कि वह संपन्न वर्ग के स्वार्थ-साधन का निमित्त है, जो दरिद्र को दरिद्रता में और सामान्य जन को दासता में तुष्ट रख कर शोषण को ईश्वरीय विधान का अंग बना देता है। मार्क्सवादी धर्म को अफ़ीम के समान हेय समझते हैं। किंतु धार्मिक मानववादी न केवल इस आक्षेप का खंडन करते हैं, अपितु धर्म को मानववादी न केवल इस आक्षेप का खंडन करते हैं, अपितु धर्म को सामाजिक न्याय और समानता का स्रोत बताते हैं। प्रसिद्ध कैथोलिक मानववादी जेक्विस मेरिटेन[2] के अनुसार **संगठित समाज जिस ध्येय के लिए स्वभावतः ही प्रयत्नशील है, वह है जन-समाज के सामान्य हितों को इस रूप में उपलब्ध करना कि अलग-अलग व्यक्ति, केवल विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के नहीं, बल्कि संपूर्ण जनता के सदस्य, वास्तव में स्वाधीनता के उस प्रतिमान तक पहुँच सकें, जो सभ्य जीवन के उपयुक्त है और जो कार्य तथा संपत्ति की आर्थिक सुरक्षाओं, राजनीतिक अधिकारों, नागरिक गुणों एवं मानसिक समृद्धि से संवलित है।**[3]

धार्मिक चिंतन हमारे वर्तमान की कुत्साओं का कारण आज के जीवन में व्याप्त धार्मिक दृष्टि के अभाव में ढूंढ़ते हैं। उनके अनुसार धर्म के बिना समाज अधिक समय तक स्थिर नहीं रहेगा, वह युद्ध या अन्य किसी मूढ़ आचरण द्वारा स्वयं को विनष्ट करने के लिए बाध्य होगा। अमानवीय प्रवृत्तियों से संभावित सर्वनाश से रक्षा केवल धर्म की शरण लेने पर ही संभव है। लेकिन ऐसे अधिकांश लोग अपने विशिष्ट धर्म के प्रचार-प्रसार में ही विश्व-कल्याण की संभावना देखते हैं। जे० बी० प्रीस्टले ने इनकी आलोचना करते हुए लिखा है कि 'मेरे विचार में वे ग़लत हैं। यदि उनके लिए कोई विश्वास या कोई चर्च अथवा कोई धर्म हितकर है तो ठीक है, उनके निजी विश्वास को ले कर मैं विवाद नहीं करता। लेकिन न मेरा कोई धर्म है और न मेरे अधिकांश

---

१. ईस्ट एंड वेस्ट इन रेलिजन, डॉ० राधाकृष्णन।

२. जेक्विस मेरिटन का मानववाद कैथलिक मानववाद या अखंड मानववाद (इंटेगरल ह्यूमेनिज्म) भी कहलाता है।

३. आई बिलीव, पृ० २३२, जार्ज एलेन एंड युनिविन लि०, पंचम संस्करण।

मित्रों का। मेरे विवेच्य (अभिप्राय 'लिटरेच एंड वेस्टर्न मैन' में चर्चित लेखकों से है— ले०) प्रमुख आधुनिक लेखकों में बहुत कम के पास कोई धर्म है; जो निश्चित है वह यह है कि हमारे समाज के पास कोई धर्म नहीं है, भले ही वह किसी को अपना बताये। अब वह केवल अधार्मिक ही नहीं, बल्कि प्रबल धर्म-विरोधी है। और हम चाहे किसी विद्यमान ईसाई चर्च के अनुगामी बन जायँ, हम उसे वह शक्ति नहीं दे सकते कि अब तक जो घट चुका है, उसे वह मिटा दे।'

वैज्ञानिक उन्नति और तकनीकी विकास तथा जीवन की संचालक मूल वृत्तियों और जगत की नियामक शक्तियों की खोज ने मनष्य की सनातन मान्यताओं और युग-युग से चली आती आस्थाओं को नष्ट कर दिया है, फलतः हमारी नैतिक धारणाएँ ध्वस्त हो चुकी हैं और धर्म का हमारे जीवन से प्रभुत्व उठ गया है। धर्मोद्धार की कतिपय नवीन चेष्टाओं के बावजूद धर्म-निरपेक्षता की एक अप्रतिबाध्य प्रक्रिया आज सक्रिय है। दिव्य सत्ता की उपस्थिति का मान हमारे पूर्वजों के अनुभव-जगत में कितना ही महत्वपूर्ण रहा हो, हमारे अपने जीवन से उसका दूर होना ही अधिक सत्य है।

परम प्रभु की अनुपस्थिति के तीव्र बोध से व्यथित धार्मिक मानववादी उसकी पुनः स्थापना चाहते हैं। टी० एस० इलियट के अनुसार दिव्य सत्ता से विरहित 'मानवीय' की कल्पना असंभव है—**मेरे विचार से मानववाद अधिकतर 'मानवीय' शब्द के वाक्छल पर और साधारणतः उस पर उन विशिष्ट दार्शनिक विचारों के आरोपण पर जो उसमें हैं ही नहीं, निर्भर करता है। मेरा विरोध यह है कि मानववादी प्राकृतिक से मानवीय के पृथक्करण में उसी 'अति प्राकृत' का प्रयोग करता है, जिसका वह यों निषेध करता है। मेरी यह दृढ़ प्रतीति है कि यदि इस 'अति प्राकृत' का दमन किया जाता है (मैं आध्यात्मिक शब्द से बच रहा हूँ, क्योंकि इसका कुछ भी अर्थ लिया जा सकता है)तो मनुष्य और प्रकृति का द्वंद्व ही तत्क्षण विलीन हो जाता है, क्योंकि वह अति प्राकृतिक वास्तविकताओं को महसूस कर सकने के कारण ही मनुष्य मनुष्य है न कि इसलिए कि वह उनका आविष्कार कर सकता है। या तो मनुष्य में प्रत्येक वस्तु का विकास नीचे से होता है या कुछ ऊपर से अवतरित होता है। इस द्विधा से बचा नहीं जा सकता, या तो आपको प्रकृतिवादी बनना होगा या अति प्राकृतवादी। यदि आप 'मानवीय' शब्द को उस सबसे वंचित कर देते हैं, जो अति प्राकृतिक के प्रति आस्था ने मनुष्य को दिया है, तो आप मनुष्य को अंतिम रूप से अति चतुर, अवसरवादी और धूर्त एवं क्षुद्र पशु से अधिक गौरव नहीं दे सकते।**[1] अतः धार्मिक मानववादियों की दृष्टि से मात्र मानववाद अपूर्ण है, लेकिन वे उनके विषय में तनिक भी चिंता करने को उद्यत नहीं हैं, जो उनकी तरह सहज भाव से मानवोपरि शक्ति में विश्वास नहीं कर पाते।[2] धार्मिक मानववादियों के लिए चूँकि ऐसा विश्वास वांछनीय है, अतः इसका

---

१. सेकंड थॉट ऑन ह्यूमेनिज्म, टी० एस० इलियट, सेलेक्टेड एसेज, पृ० ४४७।

२. सी० ई० एम० जोड के अनुसार मानवेतर को स्वीकार करने की असफलता ही पतन (डिकेडेंस) का कारण है। द्रष्टव्य डिकेडेंस, माडर्न फ़िक्शंस, एम० जी० मुलर (अ थियरी ऑफ़ वैल्यू : ह्यूमेनिज्म, पृ० ९७।)

औचित्य उनके लिए अतर्क्य है। कौन सा मत ग्राह्य है, यह प्रश्न भी उनके संमुख नहीं है—व्यक्ति अपने पूर्वजों का विश्वास संस्कारवश सहज ही स्वीकार कर लेता है, इसीलिए इलियट का कथन है कि **हमारे लिए धर्म का अर्थ है ईसाइयत।**

विकासवाद की तर्क-प्रणाली का आश्रय ले कर अरविंद ने एक भविष्यवाणी की है। उन्होंने मानव-चेतना के कुछ स्तर परिकल्पित किये हैं। मनुष्य के निरंतर विकास-क्रम में चेतना ने पशु-धरातल से मानव-धरातल पर संचरण किया है और अब कोई कारण नहीं कि इसकी गति रुक जाय। वर्तमान स्थिति का अतिक्रमण कर वह अतिमानव-स्तर को प्राप्त करेगी। ऊर्ध्व चेतना के इस सोपान पर शीघ्र पहुँचा जा सकता है, यदि हम ऊर्ध्व संचरण के लिए प्रयत्नशील हों। दिव्य शक्ति स्वयं हमारी सहायता को प्रस्तुत है। मनुष्य के अंदर दिव्य का साक्षात्कार होने पर समस्त सांसारिक वैषम्य निश्शेष हो जायँगे। अरविंद मनुष्य में संकल्प-वृत्ति को जगाते हैं, किंतु जहाँ वे आचरण की मर्यादा को वर्तमान जीवन के बजाय किसी रहस्यमय भविष्य और मानवोपरि दिव्य सत्य की ओर उन्मुख मानने लगते हैं, वहाँ उसी प्रकार के पलायन का प्रतिपादन करते हैं, जो स्वप्न संसार में आकांक्षा-पूर्ति (विद फ़ुलफ़िलमेंट) के परिणामस्वरूप जन्म लेता है। अरविंद का नवमानववाद एक प्रकार के रहस्यवाद का रूप धारण कर लेता है।

धर्म का इतिहास मानव-महत्व के वैतालिकों को दी गयी यातनाओं से आपूर्ण है। पोप की आज्ञा से ब्रूनो को जीवित जलाये जाने, गैलीलियो को यंत्रणा दिये जाने आदि घटनाओं से हम परिचित हैं। धर्मोन्माद ने मनुष्य-मनुष्य के बीच घृणा के जो बीज बोये, उन्होंने विष-फल देना आज भी बंद नहीं किया है। धर्म युद्धों की रक्तरंजित कथाओं से भी वाक़िफ़ हैं। धर्म के नाम पर हुए नृशंस हत्याकांडों और निर्मम अत्याचारों की कहानी को दुहराने का यहाँ अवसर नहीं है। धार्मिक मानववादी इस सबसे अनभिज्ञ हों, ऐसा नहीं है, पर वे धर्म के वास्तविक रूप को इससे अस्पृष्ट (अंटच्ड) मानते हैं। धर्म के आलोचकों के अनुसार मानव-भाग्य का संचालन-सूत्र किसी अदृश्य शक्ति को सौंपने के लिए धर्म अपनी प्रकृति से ही बाध्य है। पोप पायस द्वारा १९३२ में भयानक मंदी (ग्रेट डिप्रेशन) के समय दिया गया परितोष (कांसोलेशन) इस दृष्टि से उल्लेखनीय है—**ग़रीब और वे सब लोग जो इस समय रोज़गार की कमी और खाद्य के अभाव की कठिन परीक्षा का सामना कर रहे हैं, उन्हें तपस्या के भाव से अत्यंत त्यागपूर्वक अपने उन कष्टों को भोगना चाहिए, जिन्हें दुर्भाग्य के इन दिनों और समाज की अवस्था ने थोपा है और जो दिव्य नियति की निरंतर प्रिय किंतु अबूझ योजना के अनुसार निर्दिष्ट हैं।** स्पष्ट ही इस प्रकार की पराजय-भावना और ऐसा नियतिवाद मानववाद की मूल चेतना के विरुद्ध है, जिसके अनुसार मनुष्य ही एकमात्र कर्ता है जो अपने दुर्भाग्य से जूझता है और अंततोगत्वा सब बाधाओं को वशीभूत कर लेता है, अपूर्णताओं से लड़ता है और अभावों को भरता है—जो स्वयं अपने भाग्य का निर्माण करता है।

भौतिक सुखों के प्रति धर्म का उपेक्षा-भाव मानववाद की आलोचना का एक और आधार देता है। धार्मिक मानववादी लोक के भौतिक कल्याण को उपेक्षणीय नहीं मानते, किंतु वे अंतिम महत्व व्यक्ति के आध्यात्मिक कल्याण को ही देते हैं, उदाहरण के लिए चार पुरुषार्थों

को स्वीकार कर के भी भारतीय धर्म-साधना मोक्ष (अर्थात् संसार-चक्र से छुटकारे) को ही चरम पुरुषार्थ मानती है और ईसाई धर्म में शारीरिक वासनाओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। मानववाद मनुष्य की कामादि मूल-वृत्तियों को न केवल महत्व देता है, अपितु यह स्वीकार कर चलता है कि उनकी उचित संपूर्ति ही सभ्य मानव के निर्माण के उपकरण जुटाती है।

यदि विविध धर्मों का समाज-शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन किया जाय, तो पता लगेगा कि वे विशिष्ट समाजों की अलग-अलग माँगों के उत्तर में जन्मे, बढ़े और बदले। अपने युग की समस्याओं का समाधान एक सीमा तक प्रत्येक धर्म ने किया। उनसे हमारे युग के प्रश्नों के हल की अपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए। आज हमें नैतिक प्रेरणा न तो बड़े-बड़े धर्मपीठों से, न दैनिक जीवन से दूर की औपचारिक आराधनाओं से और न उत्तराधिकार में प्राप्त मतों से मिल सकती है। मिल सकती है, तो मानव-प्रगति के प्रति आस्थाशील किसी रचनात्मक नयी इंजील से ही।

धर्म वस्तुतः आज वैयक्तिक विश्वास की वस्तु है। यदि धार्मिक प्रेरणा में कोई अपने व्यक्तित्व की सार्थकता ढूँढ़ता है और यदि उसने व्यक्तिगत और सामाजिक स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित कर लिया है, तो मानववादी को उसकी मान्यताओं के प्रति कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मनुष्य की बुद्धि से किन-किन चिंतन-सरणियों का उद्भव होगा और उसका हृदय किन आस्थाओं को जन्म देगा—अंततोगत्वा यह प्रश्न सर्वथा अज्ञेय है। सह-अस्तित्व और औदार्य सभ्य जीवन की आवश्यक शर्तें हैं। अतः कुछ मानववादियों का आत्यंतिक धर्म-विरोध वांछनीय नहीं है; क्योंकि उससे एक रूढ़िवादिता मानववाद में स्थान पा जाती है।

क्या मानववाद और धर्म में समन्वय संभव है? डॉ० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'ईस्ट एंड वेस्ट इन रेलिजन' की भूमिका में विश्व के क्षितिज पर एक नव-मानववाद के उदय की घोषणा की है। वे इस नव-मानववाद का संबंध विभिन्न धर्मों के आदर्शों की छत्रछाया में संगठित एक विश्व-व्यापी मानव-चेतना से जोड़ते हैं और उनके अनुसार धर्म मनुष्य के भौतिक और सामूहिक कल्याण की भी उतनी ही चिंता करता है, जितनी आध्यात्मिक और वैयक्तिक कल्याण की। जे० वी० कोट्स को उस विकृत धार्मिकता के विरुद्ध मानववाद के आक्षेपों से कोई शिकायत नहीं है, जो मनुष्य की स्वतंत्र कर्तृत्व-शक्ति को अस्वीकार करती है। वे स्वयं ईश्वर की ऐसी ही व्याख्या करते हैं, जो मनुष्य को मूल्यों का कर्ता और अपने भविष्य का विधाता बनने का सामर्थ्य देता है।[1] जेक्विस मेरिटन ने कैथलिक धर्म के आदर्शों के आधार पर संगठित एक सुखी समाज की कल्पना की है, जिसमें न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा होगी। धर्म और मानववाद के समन्वय के प्रयास उल्लेखनीय हैं, किंतु समन्वय की अपेक्षा दोनों का सहअस्तित्व ही अधिक संभव प्रतीत होता है। मानवोपरि दिव्य सत्ता की कल्पना के बिना धर्म की स्थिति ही संभव नही है, जब कि वैज्ञानिक मानववाद अपनी प्रकृति से ही किसी मानवेतर सर्वशक्तिमान को अस्वीकृत करने के लिए बाध्य है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक और चिंतक जूलियन

---

१. द क्राइसिस ऑफ़ ह्यूमन पर्सनालिटी।

हक्सले के अनुसार विकासशील मनुष्य न तो उस परम पिता के चरणों में जा कर अपने एकांत से त्राण पा सकता है, जिसे उसने ही सिरजा है। और न दिव्य शक्ति की शरण ले कर निर्णय के दायित्व से बच सकता है और न अपनी वर्तमान समस्याओं का सामना करने से भाग सकता है और न एक सर्व-समर्थ किंतु दुर्भाग्य से अगम्य नियति पर विश्वास कर अपने भविष्य के लिए आयोजन करने से विमुख हो सकता है।[११]

मानववाद के लक्ष्य ही इस धरती पर जीवन का अर्थ पाना है। मानववाद सब अति प्राकृतवादी धर्मों से इस बात में भिन्न है कि इसके ध्येय का केंद्र इस दुनिया के सिवाय और कोई दुनिया नहीं है। इसका यह एक मौलिक अभिप्राय है कि इस दुनिया और इस पर की ज़िंदगी को बेहतर बनाया जा सकता है और इन्हें उन्नत बनाने का उद्योग करना हमारा कर्तव्य है। मानव के लिए सुख ऐसी नैतिक धारणा है जिसका संबंध उसके मर्त्य जीवन से ही है।

अंध नियति के विरुद्ध एक अविराम संघर्ष मनुष्य का चरम इष्ट है। वह स्वयं अपना भाग्य-विधाता है। धार्मिक सुधारवादियों से कुछ आचारपरक (एथिकल) और सामाजिक उद्देश्यों में मानववादी सहमत हो सकते हैं, किंतु मानव-केंद्रित जीवन-दर्शन के रूप में मानववाद किसी आध्यात्मिक उपलब्धि को चरम लक्ष्य मानने वाले धार्मिकों की विचारणा के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि पार्थिव जीवन को महत्व देने के बावजूद भी उन धार्मिकों का परम इष्ट दिव्य जीवन ही रहता है।

—हिंदी विभाग, उदयपुर वि० वि०,
(एम० बी० कॉलेज), उदयपुर।

---

११. हिंदुस्तान टाइम्स, २४ सितंबर, १९६१ से उद्धृत (मूल 'आब्जर्वर')

ओमप्रकाश दीपक

साहित्य में व्यक्ति और समूह का द्वंद्व

व्यक्ति और समूह के द्वंद्व का एक बड़ा ही महत्वपूर्ण पक्ष, विशेषतः कला के संदर्भ में, अल्पसंख्यक समूह और बहुसंख्यक समूह का द्वंद्व भी होता है। साहित्य का माध्यम उसे एक अल्पसंख्यक समूह (किसी भाषा-समूह) के साथ संबद्ध करता है, लेकिन सभी कलाओं की भाँति साहित्य भी सीमाओं को लाँघने की चेष्टा है, और इस कारण मूलतः सार्विक होता है। इसलिए अल्पसंख्यक समूह और बहुसंख्यक समूह के द्वंद्व का सामना लेखक को भी करना पड़ा है।

सबसे बड़ा समूह है मानव-जाति। (यूँ कोई दार्शनिक विवेचन करना चाहे तो प्राणिमात्र या सृष्टि-मात्र को भी ले सकता है, लेकिन उसकी यहाँ कोई ज़रूरत नहीं। यहाँ समूह से मेरा तात्पर्य केवल मानव-समूहों से है।) मानव-जाति अपनी संपूर्णता में असंगठित है; संस्थागत नहीं है। फलस्वरूप मानव-जाति की धारणा केवल मानवीय गुणों और मानवीय संबंधों से जुड़ी हुई रही है—तर्क बुद्धि, प्रेम, करुणा जैसे गुण और मानवी एकता के संबंध ('वसुधैव कुटुंबकम्', 'समान प्रसवः जातिः')। ये गुण और संबंध सार्विक हैं, इसलिए सर्वथा वैयक्तिक भी हैं। वैयक्तिकता और सार्विकता के इन मिले-जुले तत्वों के विरुद्ध हम राज्य, राष्ट्र, जाति, धर्म, वर्ग, समुदाय अथवा सभ्यता जैसे समूहों को पाते हैं, जो मानव-जाति की तुलना में अल्पसंख्यक हैं, और किसी न किसी रूप में संगठित हैं। व्यक्ति-मानव के साथ ये सभी समूह टकराते हैं, क्योंकि ये उसके गुणों और संबंधों को सीमित करते हैं; बाँधते हैं। और ये समूह आपस में भी टकराते हैं—धर्म और राज्य, राज्य और सभ्यता, वर्ग और राज्य आदि।

पिछली तीन शताब्दियों में इन संघर्षों में राज्य की हर जगह विजय हुई है, और आज बीसवीं शताब्दी के मध्य में राष्ट्र-राज्य सबसे महत्वपूर्ण और सशक्त समूह है। फलस्वरूप व्यक्ति और समूह के द्वंद्व का सबसे मुखर रूप है व्यक्ति-मानव और राष्ट्र-राज्य का द्वंद्व। राज्य की सीमाओं के अंदर लेकिन अपने प्रभावों में उन सीमाओं को लाँघता हुआ है वर्गों और वर्णों का टकराव—काले-गोरे का टकराव, किसान-भूस्वामी का टकराव, मालिक-मज़दूर का टकराव, शुद्र-द्विज का टकराव।

इन संघर्षों की पृष्ठभूमि में मनुष्य द्वारा पूर्णता की आकांक्षा और प्रयास, जिसमें स्त्री-पुरुष संबंधों के नये रूपों की तलाश भी आ जाती है—संपूर्ण आधुनिक साहित्य को इस संदर्भ में समझा और निरूपित किया जा सकता है, वस्तुतः संपूर्ण आधुनिक कला को ही।

इन संघर्षों के फलस्वरूप कभी-कभी मूर्त और अमूर्त का संबंध-विच्छेद हो जाता है—राष्ट्र (या सर्वहारा या आर्य जाति या गोरी सभ्यता या ईसाई धर्म अर्थात कोई भी समूह) महान है, और जनता (यानी अलग-अलग व्यक्ति) क्षुद्र है, मूर्ख है। यह संबद्ध-विच्छेद अक्सर तानाशाहियों को जन्म देता रहा है। लेकिन साहित्य मे यह संबंध-विच्छेद एक प्रकार के अभिजात विद्रोह या अलगाव को भी जन्म देता है, जिसकी परिणति कभी-कभी एक प्रकार के मृत्यु-मोह में होती है। लेखक मानवीय गुणों से भी जुड़ा रहना चाहता है, और समूह की महानता, व्यवस्था, और परंपरा से भी। लेकिन होता इसके विपरीत है। परंपरा की जड़ता, व्यवस्था का अन्याय और महानता की क्रूरता उसे समूह से नहीं जुड़ने देती, और व्यक्ति की क्षुद्रता, मूर्खता और अंध-विश्वास उसे जन-सामान्य से काटते हैं, और अंत में वह अपने को बिल्कुल अकेला पाता है। वह जिनके बारे में लिखना है, उनके लिए नहीं लिखता। वह संबोधित करता है अपने परिवेश के बाहर किसी अपरिभाषित समूह को, या फिर अपने जैसों के एक विशिष्ट वर्ग को। यह विशिष्ट वर्ग धीरे-धीरे सिकुड़ता हुआ उसके अपने व्यक्तित्व तक सीमित रह जाता है। कभी-कभी फिर वह भी नहीं रह जाता और लिखना सिर्फ़ एक बेबसी रह जाता है। इसकी परिणति होती है आम तौर पर मृत्यु-मोह में।

इस परिणति से बचने का सीधा सा उपाय होता है व्यक्ति या समूह में से किसी एक की सर्वोच्चता स्वीकार कर लेना, इसमें कुछ आत्म-वंचना निहित हो सकती है, लेकिन यह रास्ता कुछ आसान है, क्योंकि इस तरह आदमी अकेला नहीं रह जाता।

इस प्रसंग में आंतरिकता, आध्यात्मिकता अथवा किसी प्रकार के रहस्यवाद के रूप में धर्म की ओर वापसी भी समस्या का हल प्रस्तुत करती प्रतीत होती है, क्योंकि संगठित धर्म संगठित राज्य से पराजित हो चुका है और आंतरिकता या आध्यात्मिकता सहज मानवीय गुण है। दिक़्क़त यह है कि धर्म पराजित भले ही हो गया हो, असंगठित नहीं है, और अंततः आध्यात्मिकता का मानवीय गुण भी ईसाइयत या इस्लाम या बौद्ध धर्म या हिंदू धर्म के साथ जुड़ जाता है। और किसी भी सूरत में इससे किसी लेखक की व्यक्तिगत समस्या भले ही सुलझ जाय, व्यक्ति और समूह के द्वंद्व का समाधान नहीं होता।

किसी वर्ग (जैसे सर्वहारा) या वर्ग (जैसे गोरे लोग) के रूप में राज्य से भिन्न किसी समूह की उच्चता स्वीकार कर लेने से भी द्वंद्व का समाधान नहीं होता, क्योंकि अपने संगठित रूप में ये समूह अपने सदस्यों के प्रति भी उतने ही अमानवीय होते हैं, जितने अन्य समूहों के प्रति। इस असानवीयता को स्वीकार कर के, अर्थात उस सीमा तक स्वयं स्थानच्युत हो कर ही लेखक इस प्रश्न का उत्तर पा सकता है कि वह किसके बारे में लिखे, किसके लिए लिखे।

व्यक्ति की सर्वोच्चता स्वीकार करते ही सवाल उठता है, कौन व्यक्ति? व्यक्ति केवल मानवीय गुणों और संबंधों से ही बँधा नहीं होता, किसी न किसी रूप में विभिन्न समूहों से भी जुड़ा रहता है, क्योंकि सामाजिकता भी एक मानवीय गुण है। और सामाजिकता के माध्यम होते हैं संगठित समूह।

फिर लेखक क्या करे? द्वंद्व की उपेक्षा कर के किसी अज्ञात मित्र को संबोधित करे? या आने वाली पीढ़ियों के अज्ञात भविष्य को?

ये उत्तर भी संतोष नहीं देते, क्योंकि आंतरिकता या किसी को भी संबोधित न करने से दृष्टिकोण की भाँति ये समस्या को बचा भले ही जायँ, उसका कोई हल प्रस्तुत नहीं करते। उनसे भी अधिक से अधिक किसी लेखक की अपनी व्यक्तिगत समस्या ही हल हो सकती है। बल्कि जैसा हम आगे देखेंगे, यहाँ भी लेखक किसी हद तक स्थानच्युत हो जाता है। और लेखक मात्र के सामने ही भाषा के लेखक के सामने जो समस्या है, उसका कोई समाधान नहीं मिलता।

मेरा ख्याल है कि व्यक्ति और समूह के संबंधों के प्रसंग में कला का क्या स्थान है, इसे समझने की कोशिश अगर हम करें तो अपनी समस्या का समाधान खोजने में सहायता मिल सकती है। हर व्यक्ति कुछ संगठित समूहों का सदस्य होता है, इसलिए बहुधा ऐसा कह दिया जाता है कि व्यक्ति समाज का अंग है। यह बात बिल्कुल ग़लत और भ्रामक है, क्योंकि 'समाज' से केवल संगठित समूहों का ही बोध होता है, जब कि व्यक्ति का संबंध असंगठित समूहों से भी होता है। दूसरे सदस्यता और आंगिता, ये संबंध एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होते हैं। व्यक्ति समाज का अंग होता है, यह धारणा उतनी ही ग़लत है, जितनी यह कि व्यवित का अस्तित्व सर्वथा समाजनिरपेक्ष होता है।

पहले भी कई स्थानों पर मैं इस प्रश्न की चर्चा कर चुका हूँ। यहाँ मैं केवल इतना ही कहूँगा कि जीवन के अन्य बहुतेरे द्वैधों के समान यहाँ भी अन्योऽन्याश्रित का संबंध है, या अधिक वैज्ञानिक शब्दावली में 'ध्रुवीय संबंध' (अन्योऽन्याश्रित की धारणा को व्यक्त करने वाला यह शब्द सुझाने के लिए मैं अपने मित्र श्री बद्रीनाथ तिवारी का आभारी हूँ)। अर्थात व्यक्ति और समूह दोनों एक दूसरे पर कार्य करते और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह संबंध आज बिल्कुल बिगड़ गया है, यह अलग बात है। व्यक्ति के जीवन में समूह का हस्तक्षेप बहुत अधिक बढ़ गया है, व्यक्ति का जीवन बहुत अधिक समूह-निर्देशित और समूह-नियंत्रित हो गया है। यह बात हमारे युग की सभी समाज-व्यवस्थाओं के लिए सच है, चाहे वे 'व्यक्तिवादी' कहलाती हों या 'समाजवादी'। इसकी विस्तृत चर्चा दिलचस्प और लाभदायक हो सकती है, लेकिन यहाँ अप्रासंगिक होगी।

हमें मतलब इस बात से है कि साहित्य शायद जीवन का वह सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है, जिसमें व्यक्ति समूह पर कार्य करता है और उसे प्रभावित करता है। सीमित रूप में एक ऐसा ही अन्य क्षेत्र है स्वतंत्र मतदान। दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति एक सामाजिक दायित्व का निर्वाह करता है। यह ठीक है कि अपने आपमें और अपने प्रभावों में लेखक का दायित्व अधिक व्यापक और गंभीर होता है। लेकिन दोनों ही स्थितियों में इस दायित्व पर किसी प्रकार का भी बाह्य नियंत्रण सर्वथा अवांछनीय होता है—चाहे वह नियंत्रण राज्य, दल अथवा पूँजीपतियों जैसे किसी वर्ग का हो, अथवा अन्य किसी अप्रसांगिक तत्व का।

इस प्रकार व्यक्ति और समूह के संबंधों के प्रसंग में साहित्य पर समूह का नियंत्रण या हस्तक्षेप उतना अनुचित और अवांछनीय है, जितना व्यक्ति द्वारा सामाजिक नियमों का उल्लंघन।

कठिनाई यह है कि समूह अपने नियमों के उल्लंघन को दंडित कर सकता है, लेकिन व्यक्ति केवल विद्रोह कर सकता है। जहाँ स्वतंत्र वोट का अधिकार छीन लिया जाय या सीमित कर दिया जाय, वहाँ सामान्य व्यक्ति भी संगठित या असंगठित विद्रोह ही कर सकता है। व्यक्ति और समूह के संबंध चूँकि हर जगह बिगड़े हुए हैं, व्यक्ति चूँकि कहीं भी सचमुच स्वतंत्र नहीं है, इसलिए हर सर्जनशील लेखक, हर कलाकार मूलतः विद्रोही होता है।

इस पृष्ठभूमि से जाहिर है कि लेखक की जिम्मेदारी पूर्णतः अपने अनुभूत यथार्थ के प्रति अपने व्यक्तित्व और अपने भावबोध के प्रति, अपनी मानवीयता के प्रति होती है। यह उसकी अपनी निष्ठा की ही नहीं, उसके सामाजिक दायित्व की भी माँग है। किसी बाहरी दवाव से प्रभावित हो कर न मतदाता अपने दायित्व का निर्वाह कर सकता है, न लेखक। यह भी ज़ाहिर है कि यथार्थ एक चुनौती होती है, जिसके विना वह अपनी ज़िम्मेदारी नहीं निभा सकता।

अतः व्यक्ति और समूह के संबंध किसी स्थिति विशेष में चाहे जो भी हों, हर हालत में लेखक को इन संबंधों की समस्या का सामना अलग-अलग अपने आप ही करना होगा। इसके साथ ही अपनी रचना के साथ लेखक के संबंध का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। लेखक के लक्ष्य से अलग, रचना की उपलब्धि का बहुधा अपना महत्व होता है। लेखक किसे संबंधित करता है, क्या कहता है, इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कि रचना किसे संबोधित करती है, क्या कहती है, जिस परिवेश में जन्म लेती है, उसे कहाँ तक लाँघ जाती है। किसी विशिष्ट स्तरीय पाठक को संबोधित करना आज की विशिष्ट स्थिति में किसी हद तक लेखक की मजबूरी हो सकती है, क्योंकि उसका परिवेश ही नहीं, आम तौर पर उसका व्यक्तित्व भी खंडित है, और पाठक-समूह भी न केवल विशाल है वरन बँटा हुआ भी है। लेकिन हर सूरत में लक्ष्य एक ही हो सकता है जिसे प्राप्त करने की चेष्टा हर लेखक को हमेशा करनी होगी—व्यक्ति की सीमाओं से लाँघ कर बीच के अल्पसंख्यक समूहों के साथ व्यक्ति के संबंधों को समेटते हुए सार्विकता की उपलब्धि। यह काम आज बहुत ही कठिन हो गया है, लेकिन आसान तो कभी भी नहीं था।

—८७४४, शीदीपुरा,
करोलबाग़, नयी दिल्ली—५।

ज्योत्स्ना देवधर

स्वातंत्र्य-वीर की समरगाथा

स्वातंत्र्य-वीर विनायक दामोदर सावरकर का दुखद देहावसान दिनांक २६ फ़रवरी १९६६ को हुआ। उनका पूरा जीवन एक अपूर्व समरगाथा है। एक बलशाली सत्ता के साथ किये गये संग्राम की वह गाथा है; पारतंत्र्य की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए अपने आपको धधकती ज्वाला में झोंक देने की एक धीर-गाथा है; चौदह साल तक नारकीय यातना भुगतने वाले एक दार्शनिक की कहानी है। उनकी उम्र थी ८३ साल की, लेकिन मन और बुद्धि का अभिनिवेश था एक युवक-सा।

रे मरण! रुक, अभी और रुक जा।
अधूरा मेरा कार्य, मुझे यहीं छोड़ जा।।
रे मरण! तू मत आना मेरे द्वार।
अभी और सहना है, पीना, झेलना है।।
रे मरण! तुझे बहुत बार रोका, थामा।
आवाहन नहीं माना, आह्वान दिया।।
मृत्यो! खोल महाद्वार मैं कृतकृत्य हो आया।
पारतंत्र्य की टूटी शृंखलाओं का उपहार लाया।।

उनका जन्म नासिक ज़िले में भगूर नामक ग्राम में २८ मई, १८८३ को हुआ। बचपन में ही पिता दामोदर पंत के मुख से रामविजय, हरिविजय, पांडव-प्रताप, शिवलीलामृत, जैमिनि अश्वमेध आदि धार्मिक ग्रंथों से परिचय हुआ। सन १८९२ में माँ राधाबाई का देहांत हुआ। पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई बाबाराव तथा भाभी ही उनके माँ-बाप थे। सावरकर के बड़े भाई बाबाराव ने भी देशप्रेम से प्रेरित हो कर कारावास सहा। अंदमान में वे भी अपने छोटे भाई के साथ नरक-यातना भुगत रहे थे।

नासिक में सावरकर ने अंग्रेज़ी का अध्ययन प्रारंभ किया। १९०१ में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा दी। बचपन से ही कविता करते थे। वक्तृत्व-कला में निष्णात वे अपने भाषणों से

हज़ारों को मंत्रमुग्ध कर देते थे। उनकी वाणी तीखी और तेजस्वी थी। स्कूल से लौटते वक़्त रास्ते में लगे विलायती फूलों को अपनी छड़ी से पीट-पीट कर छिन्न-विच्छिन्न कर डालते तब उन्हें और उनके बाल-साथियों को एक अनोखा आनंद मिलता था। सावरकर में एक विशेष संघटन-शक्ति थी। बचपन से ही इनकी बाल-मंडली देश-प्रेम से प्रेरित हो इनका नेतृत्व मानती रही। आगे अंदमान जैसी काल-कोठरी में भी सावरकर ने अपनी संघटन-शक्ति से क़ैदियों को एक कर उन्हें सिखाया-पढ़ाया; व्याख्यान दिये।

उस समय भारत में ताऊन बुरी तरह फैला था। अंग्रेज अधिकारी इस दुर्दैव में लोगों की दुर्दशा कर रहे थे। इस अत्याचार के प्रतिकारस्वरूप चाफेकर बंधुओं ने रैंड और आयर्स्ट नामक दो अंग्रेज़ अधिकारियों को चलती बग्घी में गोली मार दी। चाफेकर-बंधुओं को द्रविड़ नामक भाइयों ने दस हज़ार रुपये के लोभ में पकड़वा दिया। इस कुकृत्य से नाराज़ हो कर चाफेकर भाइयों के तीसरे छोटे भाई वासुदेव ने और उनके मित्र रानाडे ने द्रविड़ भाइयों को जान से मार डाला। सरकार ने तीनों चाफेकर भाइयों तथा रानाडे को फाँसी की सज़ा दे दी।

वासुदेव और रानाडे ने फाँसी पर चढ़ते समय और **नैनं छिंदंति शस्त्राणि** आदि का ऐसी गर्जना करते हुए से पाठ किया था और दोनों हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ गये थे। पंद्रहवर्षीय सावरकर का अंतर्मन मथ उठा। यही वह घटना थी जिसने सावरकर के जीवन का ध्येय निश्चित किया। भगूर में अष्टभुजा देवी के सामने उन्होंने शपथ ली, **देश का स्वातंत्र्य पाने के लिए मैं सशस्त्र क्रांति का झंडा गाड़ कर मारते-मारते मरूँगा।**

१९०५ में पूना के फ़र्ग्युसन कॉलेज से बी० ए० की पदवी पाने के बाद सावरकर एल० एल० बी० के लिए बंबई गये। १९०६ में बैरिस्टर होने के लिए इंग्लैंड जाने का निश्चय किया। अंतःस्थ हेतु था, वहाँ के भारतीय विद्यार्थियों के मन में स्वातंत्र्य-प्रेम की ज्योति प्रज्वलित करना। अपनी 'अभिनव भारत' नामक संस्था के लिए उन्होंने अनेक युवक इसी उद्देश्य से इकट्ठा किये थे। सावरकर के बड़े तथा छोटे दोनों भाई इस संस्था के प्रमुख कार्यकर्ता थे। इंग्लैंड में 'इंडिया हाउस' को केंद्र बना कर सावरकर ने क्रांति के अनेक गुप्त काम किये। वहाँ १८५७ के स्वातंत्र्य-युद्ध की अर्ध-शताब्दी बड़े धूमधाम से मनायी। शिवाजी-उत्सव करने से भी नहीं डरे। इटली के क्रांतिवीर जोसेफ़ मेजिनी का चरित्र लिखा तथा 'भारत का पहला स्वातंत्र्य-युद्ध' नामक ओजस्वी ग्रंथ रचा। इन्हीं दिनों सावरकर ने एयरगन चलाने का अभ्यास किया। बम बनाने के प्रयोग किये। परिणामतः सावरकर की बार-ऐट-ला की पदवी अस्वीकृत की गयी।

इंग्लैंड का स्काटलैंड यार्ड सावरकर की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों से चिंतित हो उठा। ब्रिटिश सरकार इनके हाथों में बेड़ियाँ डालने के लिए उत्सुक हो उठी। कारण ढूंढ़ा जाने लगा। दुर्दैव से सरकार को संधि मिली। सावरकर के बड़े भाई बाबाराव सावरकर को अभिनव भारत के संदर्भ में 'पद्यावली' लिखने मात्र के लिए जन्म भर कारावास का दंड दिया गया। तभी, (१९०९ में) नासिक में वहाँ के जिलाधीश जैक्सन का खून हुआ। बस, सरकार को कारण मिला। फ़्रांस से लौटते समय इंग्लैंड स्टेशन पर ही १३ मार्च १९१० में सावरकर को पकड़ा

गया। उन पर 'वारंट' था कि उन्होंने भारत में राजद्रोह का गुनाह किया है। और खून के लिए मदद कर वे 'फ़रार' हो गये हैं।

वीर सावरकर को क़ैद कर १ जुलाई, १९१० को भारत भेजा गया। ८ जुलाई, १९१० को उन्होंने मार्सेलिस बंदरगाह के पास नौका के 'पोर्ट होल' से कूद कर फ़ांस का किनारा छुआ। सोचा था कि फ़ांस की सरकार के अधीन हो जाने पर वे उन्हें ब्रिटिश-सरकार को नहीं सौंपेंगे। लेकिन उन्हें ब्रिटिशों की क़ैद में जाना पड़ा। स्वातंत्र्य-वीर सावरकर का यह साहस भारत के स्वातंत्र्य-इतिहास में स्वर्ण-अक्षरों में लिखा गया। इधर उनकी अनुपस्थिति में भारत में उन पर मुक़दमा चला और उन्हें दो बार आमरण क़ैद का देह-दंड दिया गया।

अंदमान के कारावास में वीर सावरकर को बुरी तरह छला गया। मन और प्राण को थका देने वाला दंड दिया गया। देह-दंड की तो सीमा नहीं। एक खूनी, एक डाकू से भी अधिक मानहानि और उससे भी अधिक शासन के कठोर प्रहार! छिल्का कूटने का काम दिया गया। कोल्हू से जोता गया। भूखे, प्यासे, थके-माँदे, बीमार हालत में उनसे कठोर शारीरिक काम लिया गया। सावरकर मूलतः गोरे, छोटे क़द के, इकहरे बदन के थे। उनकी आँखों में तेज था। मातृभूमि के प्रति उनके हृदय में अपार प्रेम एवं अतुलनीय निष्ठा थी। विलक्षण स्मरणशक्ति थी उनके पास। कारावास की नारकीय यातनाओं में भी इनका चिंतनशील कवि-मन सतत कार्यरत रहा। उन्होंने 'कमल' नामक खंडकाव्य को स्मृति के आधार पर प्रायः कारावास की भित्तियों पर काँटे की क़लम बना कर लिखा था। कोठरी बदली, और काव्य खरोंच कर नाम मिटा दिया गया। कोठरी को रँग दिया गया, कविता की पंक्तियों पर सफ़ेदी हुई। यह थी इस खंडकाव्य की हालत। लेकिन स्मृतिपटल साफ़, सुथरा, सक्षम था। एक-एक पंक्ति अपनी स्मरण-शक्ति से स्मृतिपटल पर अंकित कर रखी। कारावास की नारकीय यातनाओं में भी इनका क्रांतिकारी मन चैन से नहीं बैठा। वहाँ अत्याचारों के विरोध में आवाज़ उठायी। क़ैदियों के वाजबी हक़ के लिए झगड़ा किया। इसलिए दंड भी भुगतना पड़ा। लेकिन सावरकर हार मानने वाले नहीं थे। क़ैदियों के लिए एक पुस्तकालय की आयोजना की। विशेष तो यह कि सावरकर अनपढ़ क़ैदियों को हिंदी सिखाते; छुप-छुप कर उन्हें भारत के वीरों की गाथा सुनाते; व्याख्यान देते। अपूर्व संघटन-शक्ति थी उनके पास। हिंदी राष्ट्रभाषा है; वह प्रत्येक को आनी ही चाहिए; नागरी ही राष्ट्रलिपि है—यह उनका आग्रह था।

वीर सावरकर की युवा-पत्नी उन्हें डोंगरी के जेल से छूटने के पूर्व मिलने गयीं। इस ऐतिहासिक भेंट के समय सावरकर ने अपनी पत्नी से कहा, देखो, **कभी इस सामान्य जीवन से मोह हो जाय तो सोचना कि बच्चों की संख्या बढ़ा कर और चार तृण इकट्ठा कर घरौंदा बाँधना ही घर-संसार का अर्थ हो तो ऐसा जीवन पंछी भी जीते हैं। लेकिन गृहस्थी का अर्थ इससे भव्यतर होना हो तो एक मानव की गृहस्थी के पुण्यकर्म करने का महान कार्य हमने किया है। हमने अपनी चार हाँड़ियाँ फोड़ डाली हैं; अपना चूल्हा बुझा दिया है, लेकिन शायद इसी से आगे चल कर हजारों के घर से सोने का धुआँ निकलेगा।**

सावरकर राजकीय जीवन न अपनाते तो एक महान साहित्यिक बनते। कारावास की कठोर यातनाओं को झेलते समय भी इनका कवि-मन तरल रहा; संवेदनक्षम रहा। अंदमान में बिताये चौदह सालों की रोमहर्षक कहानी उन्होंने अपने 'माझी जन्मठेप' नामक पुस्तक में ग्रंथित की है। उनका जीवन-इतिहास जितना नाट्यपूर्ण, करुण और गंभीर है उतना ही उनका काव्य अद्‌भुत है। 'गोमांतक' महाकाव्य, 'कमला' खंडकाव्य, और 'सावरकरांची कविता' यह उनके काव्य-संग्रह सुप्रसिद्ध हैं। प्रखरता और तेजस्विता उनके कविता के प्राण हैं। 'संन्यस्त खड्ग', 'उःशाप', 'उत्तरक्रिया' उनके नाटक हैं। 'कालेपाणी' है उनका उपन्यास। स्फुट-लेख तो पर्याप्त हैं। वे विविध विषयों पर अधिकारपूर्वक लिखते रहे। इनकी लिखी कुल मिला कर ३८ पुस्तकें प्रकाशित हुई है।

उनके वक्तृत्व के विषय में कहना हो तो 'दशसहस्रेषु एक' यही कहना होगा। मराठी, अंग्रेज़ी, हिंदी यहाँ तक कि संस्कृत, बंगाली, तमिल में भी वे धुआँधार वक्तव्य करते थे। जिसने उनका तेजस्वी, प्रखर भाषण सुना है, वे भाग्यशाली हैं।

१९३७ में सावरकर पर लगाये गये बंधन हटा दिये गये। तभी से उन्होंने अपने आपको अखिल भारतीय हिंदू महासभा के कार्य के लिए अर्पित कर दिया। बंबई में साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्षपद से भाषण करते हुए उन्होंने लेखकों को तेजस्वी संदेश दिया, **क़लम तोड़ डालो और बंदूक़ पकड़ो।**

क़रीब साठ वर्ष पूर्व आसफ़ अली ने स्वातंत्र्य-वीर सावरकर के बारे में कहा था कि **वे पर्वतीय प्रपात की भाँति सतत गतिमान तथा स्पानी तलवार की तरह तीक्ष्ण हैं।**

मृत्युंजय वीर सावरकर ने अपनी आँखों भारत की स्वाधीनता देखी और आत्मार्पण किया। और क्रांतिकारियों के मेरुमणि की धधकती अग्निशिखा शांत हो गयी।

चिरंजीव यह हुतात्मा का विजयी अभिमान।
इतिहास-सा कौन समर्थ जो करे इसका सम्मान।

—८५०, 'शीतल,'
शिवाजी नगर,
पुणे-४।

सुखबीर

कहानी

उदासी का रंग

गुरनाम का पत्र आया था; साथ ही एक तार। वह गुरु-ग्रंथ साहब का अखंड पाठ करवा रहा था और उसने मुझे बुलाया था। हर हालत में पहुचने का अनुरोध किया था, "...तुम न आये तो समझूँगा, अखंड पाठ अधूरा ही रहा है।"

पत्र पढ़ कर मुझे आश्चर्य हुआ। सोचा, गुरनाम को अखंड पाठ करवाने की यह क्या सूझी है? और मेरे विना अखंड पाठ अधूरा! यह कैसा व्यंग्य था? कहीं यह मज़ाक़ तो नहीं था? पर गुरनाम ऐसा मज़ाक़ करने वाला आदमी नहीं था; और वह भी मेरे साथ।

गाड़ी के दस घंटों के सफ़र में भी मैं गुरनाम के बारे में ही सोचता रहा। आखिर अखंड पाठ करवाने का मतलब? इस हद तक अंधी धार्मिक रुचियों का आदमी तो वह नहीं है!

स्टेशन पर वह आया हुआ था। सोचा था कि उससे मिलते ही सब से पहले उससे पूछूँगा, यह तुम्हारी अक़्ल को क्या हो गया है? पर उसे देख कर पूछने का साहस न हुआ। उसका चेहरा उतरा हुआ था। उसकी आँखों में धुंध थी। किसी ग़म की छाया थी उसके हर नक़्श पर। ऐसा लगता था, जैसे वह लंबी बीमारी काट कर उठा हो।...और दूसरे ही क्षण मैं सब कुछ समझ गया। पत्नी की मौत को वह अभी भी भूला नहीं था। पाँच महीने हो गये थे उसकी मृत्यु को। इतनी अच्छी पत्नी! इतनी स्निग्धता से भरी हुई! क्या जीवन में ऐसी वीरानी भी आती है कि आदमी को हर तरफ़ खँडहर ही खँडहर दिखायी देते हैं?

घर जाते समय, रास्ते में, गुरनाम ने जैसे सफ़ाई देने के ढंग से खुद ही कहा, "मन बहुत उचाट रहता था। किसी काम में तबियत लगती नहीं थी। लोगों ने भी कहा, और मैंने भी सोचा, गुरबाणी (गुरुवाणी) सुनने से शायद मन और तरफ़ लगे। वाणी कभी-कभी मन को बड़ा धीरज देती है। साधारण पाठ कराने का ख़्याल था कि रोज़ थोड़ा-थोड़ा पाठ होगा तो वाणी को समझने का मौक़ा भी लगेगा। वैसे भला सारी वाणी कहाँ पढ़ी जाती है? समझने की तो बात ही अलग है।"

वह एक क्षण के लिए रुका, जैसे इस संबंध में मेरी प्रतिक्रिया जानना चाहता था। पर जब मैं चुप ही रहा, तब उसने फिर कहना शुरू किया, "आखिर साधारण पाठ की जगह अखंड पाठ का ही सिलसिला बन गया। इन दिनों संत निहाल सिंह जी इस शहर में आये हुए हैं। उन्होंने बहुत अखंड पाठ करवाये हैं शहर में। मैंने सोचा, पाठ उनके शुभ हाथों से ही आरंभ हो तो अच्छा है। उनके पास जा कर विनती की तो कहने लगे, "हम अब ज़्यादा ठहरेंगे नहीं। हफ़्ते भर के लिए

आये थे, महीना हो चुका है। बस एक-दो दिन ही और यहाँ हैं। अखंड पाठ ही क्यों नहीं रखवा लिया जाता? अखंड पाठ का महातम भी ज़्यादा है। फिर 'भोग' भी हमारे होते-होते पड़ जायगा।" . . .सो मैं इन्कार नहीं कर सका। सतबचन (सत्य वचन) कह कर घर आ गया।"

वह चुप हो गया।

मैं अभी भी कुछ न बोला।

आखिर उसने फिर कहा, "मैं तुम्हें बुलाना तो नहीं चाहता था, पर पता नहीं क्यों, मुझे लग रहा था कि तुम्हारे बिना मुझसे कुछ नहीं होगा। कुछ भी नहीं हो सकेगा। अखंड पाठ का इतना बड़ा काम मेरे अकेले के करने लायक़ नहीं था, वैसे बेशक़ हाथ बँटाने वाले यहाँ बहुत से लोग हैं। सच पूछो तो पत्नी के मरने पर भी मैंने तुम्हारी इतनी ज़रूरत महसूस नहीं की थी। बहुत अच्छा किया जो तुम आ गये हो। अब लगता है, मैं बहुत हल्का हो गया हूँ।"

इस बार मैंने हौले से कहा, "तुम फ़िक्र न करो। सब कुछ ठीक हो जायगा।"

घर पहुँचे तो संत निहाल सिंह जी के दर्शन हुए जो घर के बरामदे में फ़र्श पर बिछे बिस्तर के ऊपर विराजमान थे। मैंने उनका नाम तो सुना था, पर दर्शन पहली बार किये। उन्होंने बादामी रंग का खुला रेशमी चोला पहना हुआ था। गले में ऊन की सफ़ेद माला थी; सिर पर सँवार कर बाँधी हुई छोटी सी पगड़ी। गेहुएँ रंग का स्वस्थ चेहरा चिकनाई से चमक रहा था। दाढ़ी भी चिकनाई से चमक रही थी, जो आधी से ज़्यादा सफ़ेद हो चुकी थी। उनकी छोटी-छोटी आँखें थीं, जिनमें पता नहीं 'नाम-खुमारी' की धुंध थी या नींद कि वे गँदली हुई सी प्रतीत हो रही थीं। और कुछ फूली हुई भी थीं, जिससे और भी छोटी-छोटी लग रही थीं।

जब गुरनाम ने परिचय कराते हुए मेरा नाम उन्हें बताया तब उनकी आँखों में चमक आयी। उन्होंने मुझे ज़रा ध्यान से देखा। मैं समझ गया। मेरा नाम तो सिखों वाला था, पर मेरी शक़्ल सिखों वाली नहीं थी। न मेरे सिर पर बाल थे, न चेहरे पर दाढ़ी। खैर, संत जी ने उस समय तो कुछ न कहा, बल्कि अपनी बड़ी-बड़ी मूँछों में मुस्करा कर मुझसे मिलने पर खुशी प्रकट की और पास में पड़ी तश्तरी में से, जिसमें बादाम की गिरी, किशमिश, इलायची, खड़ी शक्कर आदि रखी थी। थोड़ा सा प्रसाद मुझे दिया। पर कुछ समय के पश्चात जैसे उनसे रहा न गया और किसी बात पर दाढ़ी-केशों का ज़िक्र करते हुए बड़े विस्तार से उन्होंने मुझे दाढ़ी-केशों की महत्ता बतायी कि केश तो मनुष्य को ईश्वर की ओर से मिली हुई सब से बड़ी दात है। आदिकाल से ही हमारे ऋषि-मुनि केश रखते आये हैं। केशों में अलौकिक शक्ति है. . .। और दाढ़ी के बिना तो मर्द ज़नाना लगता है; बिल्कुल ज़नाना! ईश्वर ने जानवरों में भी नर और मादा का फ़र्क़ रखा है। असल में यह कलजुग का ज़माना है कि औरतें मर्द बन रही हैं और मर्द औरतें. . .। आखिर उन्हें मुझसे प्रण ले कर ही संतोष हुआ कि मैं फिर से दाढ़ी-केश रख कर पूर्ण सिख बन जाऊँगा और उनके डेरे पर आ कर अमृत-पान करूँगा।

साथ के कमरे में अखंड पाठ हो रहा था। पाठी की बैठी हुई आवाज़ थी और उसके पाठ करने की इतनी रफ़्तार थी कि मैं हैरान था। शब्द उसकी आवाज़ में खोये हुए थे; आपस में जुड़े और अर्थहीन बने हुये। और वह ऐसी एकरस, एकलय आवाज़ थी कि सुन कर आँखें

बंद होने लगती थीं, जैसे गाड़ी में बैठे हुए उसके पहियों की लगातार एक सी आवाज़ के कारण आँखें बंद होने लगती हैं।

तभी संत जी ने कहा, "अब आप स्नान कर लें। सफ़र की थकावट होगी। और कुछ आराम भी कर लें। फिर बैठ कर 'बचनबिलास' करेंगे।"

मैं उठ कर गुरनाम की ओर चला गया। वह घबराया हुआ सा दो व्यक्तियों को गुरुद्वारे से कुछ सामान लाने के लिए कह रहा था और ख़ुद भी साइकिल पकड़े किसी काम से बाज़ार जाने के लिए तैयार था। मैंने कुछ ही देर में उससे सारा काम-काज समझ लिया और कहा, "अब तुम बेफ़िक्र बैठो और अंदर जा कर आराम से पाठ सुनो। मैं सारा इंतज़ाम कर लूँगा।"

उसे बड़ी तसल्ली हुई और उसके चेहरे पर की घबराहट जाती रही। "देखा!" उसने कहा, "इसीलिए बुलाया था तुम्हें। ख़ैर, अब सारे इंतज़ाम में एक बात का ख़ास ख़याल रखना। और यह काम ख़ास तुम्हारे ज़िम्मे ही छोड़ता हूँ। देखना, संत जी और पाठियों के खाने-पीने और दूसरी सेवा में किसी तरह की कसर न रह जाय। किसी छोटी सी बात पर भी वे नाराज़ न हो जायँ। नहीं तो समझो अखंड पाठ. . .।"

"अखंड पाठ ही रहेगा।" मैं हलका सा हँसा, "साधारण पाठ नहीं बनेगा। पर अब तुम चिंता छोड़ो और अंदर जा कर पाठ सुनो। संत जी और पाठियों को हर तरह से ख़ुश रखूँगा। तुम्हारे गुण गायेंगे।"

सो अखंड पाठ के और सारे प्रबंध के साथ मैं संत जी और पाठियों का ख़ास ख़्याल रखने लगा। बस कुछ अधिक सचेत होने की ज़रूरत थी और कुछ अधिक नम्रता से बात करने की। जब भी उनके पास जाता, दोनों हाथ जोड़ कर पूछता, "कोई सेवा बताइए। दूध लाऊँ? बादाम ख़त्म तो नहीं हो गये? भोजन किस समय करेंगे? कौन सी दाल बनवायी जाय और कौन सी तरकारियाँ? साथ में मीठी चीज़ के तौर पर खीर बनवायें या कस्टर्ड? शाम को चाय पियेंगे या सरदाई; या दूध ही? नहाने के लिए पानी गर्म करवा दें? अंदर सोयेंगे या बाहर बिस्तर लगवा दें? . . .किसी और चीज की जरूरत हो तो हुक्म कीजिए, दास हाज़िर है . . .। कोई और सेवा?"

कुछ ही देर में यह महसूस कर के मुझे संतोष हुआ कि पाठी और ख़ास कर संत जी मेरी सेवा से बहुत ख़ुश थे।

मैंने सारे कामों की एक सूची बना ली थी और उन कामों को तरतीब दे दी थी। तीन-चार व्यक्ति जो गुरनाम ने मदद के लिए मुझे दिये थे, उनमें मैंने काम बाँट दिये। बस यही कमी थी गुरनाम में कि वह काम-काज को कोई तरतीब नहीं दे सकता था, और इसी से वे काम उलझे हुए और बहुत मुश्किल लगते थे। इसी प्रकार, कुछ चीज़ों के बारे में उसके विचार भी उलझे हुए थे। अब जैसे धर्म के बारे में। वरना अखंड पाठ के चक्कर में क्यों पड़ता! . . .पर ख़ैर, अब कोई उलझन नहीं रही थी। हर काम अपने ठीक समय पर होने लग गया था, और अखंड पाठ, जो एक तरह से ब्याह बना हुआ होता है, ब्याह न रहा।

इस बीच में मुझे संत जी के पास बैठने का कई बार मौक़ा लगा। उनमें मेरी दिलचस्पी

बढ़ी। और हैरानी की बात थी कि उन्हें भी मुझमें दिलचस्पी थी। कभी खुद ही मुझे आवाज़ दे कर अपने पास बैठा लेते। मैंने सुना था कि वे बहुत 'करनी वाले' थे, और ईश्वर को पहुँचे हुए। संत जी के पाँच चेले थे—यही पाँचों पाठी, जो अखंड पाठ कर रहे थे। संत जी उन्हें ले कर शहर-शहर जाते और अखंड पाठ करवाते; लोगों का आगा-पीछा सँवारते और गुरुद्वारे बनाने की प्रेरणा देते। उन्होंने बहुत से गुरुद्वारों की बुनियादें रखवायी थीं, और उनके करवाये अखंड पाठों की तो कोई गिनती ही नहीं थी। पहले वे स्वयं भी अखंड पाठ करते थे, पर पिछले कुछ वर्षों से उन्होंने अखंड पाठ करना छोड़ दिया था क्योंकि बैठने में उन्हें तकलीफ़ होती थी। हाँ, अखंड पाठ का आरंभ वे स्वयं करते और उसकी समाप्ति भी स्वयं ही करते। बीच का भाग उनके पाँचों चेले ख़त्म करते। संत जी के ज़्यादा देर बैठ न सकने का कारण था, उनकी टाँगों में होने वाला हल्का-हल्का दर्द। वे ज़्यादातर पीछे गद्दे के साथ टेक लगा कर टाँगें पसारे बैठे होते (या लेटे रहते) और कोई न कोई श्रद्धालु उनकी टाँगें दबाता रहता। जो भी पाठ सुनने आता, कुछ देर उनकी टाँगें दबा कर ही अंदर जाता। वे अधलेटी हालत में बैठे होते तो उनके दोनों हाथ उनके बढ़े हुए पेट पर टिके हुए होंगे। बातें करते समय उन्होंने कभी अपने हाथों को हिलाया नहीं था। आम तौर पर आदमी बातें करते समय अपने हाथों से कोई न कोई हरकत करता है; पर संत जी के हाथ अडोल रहते। वे केवल जैसे वहाँ सोये हुए लगते। वे तभी हिलते, जब उन्हें कभी प्लेट में से गिरी या खड़ी शक्कर उठा कर किसी को प्रसाद देना होता, या स्वयं मुँह में डालना होता।

अखंड पाठ का प्रवाह चलता रहा। बेरोक चलता रहा।

पाठियों का जो ख़ास ख़्याल रखने के लिए गुरनाम ने मुझे कहा था, उसकी इतनी ज़रूरत नहीं पड़ी। शहर में और भी तीन-चार जगह अखंड पाठ हो रहे थे। सो पाँचों पाठी एक चक्कर में घूम रहे थे और उस चक्कर का क्रम संत जी ने अपनी डायरी में लिखा हुआ था। उसमें किसी क़िस्म के परिवर्तन की ज़रूरत होती तो पाठी उनके पास आते, विनती करते, आज्ञा लेते और चले जाते।

उन पाँच पाठियों में से एक पाठी का, जो आयु में सब से छोटा और नौजवान था, पाठ बहुत रसभीना था। बड़ी साफ़ और खनकती हुई आवाज़ थी उसकी। गुरुवाणी के प्रत्येक शब्द को ख़ास साफ़ तौर पर खनका कर बोलता। उन शब्दों की ध्वनियाँ गूँजतीं और उनमें से रंग खिलते; गुरुवाणी की कविता चमकती। उसका लहजा कुछ इस तरह का था कि गुरुवाणी के अपंजाबी शब्द भी पंजाबी बन कर कानों में पड़ते। किसी-किसी समय वह बड़ी लय में आ कर पाठ करता। तब वह जैसे स्वयं गुरुवाणी का आनंद ले रहा होता, उसकी कविता में डूब रहा होता। मैंने सोचा, इसे कविता का शौक़ होगा। शायद खुद भी कविताएँ लिखता हो। मौक़ा लगा, तो उससे बैठ कर बातें करूँगा। पर ऐसा कोई मौक़ा न लगा। जितनी बार भी वह पाठ करने आया, पाठ कर के जल्दी में चला गया। उस पर मुझे तरस भी आया कि वह कहाँ फँसा हुआ है। बाक़ी चार पाठियों के साथ उसकी कैसे पटती होगी, जो ऐसे पाठ करते थे जैसे बेगार कर रहे हों; और किसी समय भी यह महसूस नहीं होता था कि वे गुरुवाणी की सुंदरता

से परिचित होंगे। जिस तरह वे वाणी पढ़ते थे, वैसे तो कोई शुष्क क़िस्म का गद्य भी न पढ़े। आखिर भाषा की अपनी सुंदरता होती है, शब्दों का संगीत और जादू।

अखंड पाठ का प्रवाह चलता रहा।

कुछ एक बार गुरुवाणी संवंधी चर्चा मैंने संत जी से छेड़ी। पर या तो मैं बोलता रहा और वे चुप रहे या वे बोलते रहे और मैं चुप रहा। हर बार ऐसे लगा जैसे गुरुवाणी संबंधी मेरी बातों में न उन्हें दिलचस्पी रही थी, न मुझे उनकी बातों में दिलचस्पी थी। हम दोनों के दृष्टिकोणों में बहुत ही भिन्नता थी। ख़ैर, यह अच्छा हुआ कि हमारी आपस में बहस नहीं हुई। वैसे संत जी को गुरुवाणी की अपेक्षा मेरे बारे में बातें करने में ज़्यादा दिलचस्पी थी। आखिर गुरुवाणी के बारे में तो उन्होंने सारी उम्र बातें की थीं। बंबई का जीवन और 'फ़िलम-व्यवसाय' उनके लिए नयी चीज़ें थीं। और मैंने बंबई के जीवन और फ़िलम-व्यवसाय को, जिसमें मैं फँसा हुआ था, जितनी ही ज़्यादा गालियाँ दीं, उतनी ही उनकी दिलचस्पी बढ़ी।

अखंड पाठ का प्रवाह चलता रहा।

किसी-किसी समय गुरनाम मेरे पास आता और पूछता, "सब ठीक-ठाक है न?"

मैं आगे से कहता, "तुम सुनाओ, सब काम ठीक-ठाक हो रहा है न?"

"बस, इसी तरह निर्विघ्न समाप्त हो जाय, यही 'अरदास' (विनती) है।"

आखिर तीसरे दिन 'भोग' पड़ा। संत जी ने स्वयं समाप्ति की।

फिर जब संत जी गुरनाम के यहाँ से विदा होने लगे तब उन्होंने मुझे बुला कर पूछा, "कब तक जा रहे हैं बंबई?"

"बस एक-दो दिन में ही" मैंने कहा, "बचा हुआ काम भी खत्म हो जाय।"

"देखो, हम भी शायद आपके नगर का चक्कर लगायें। बुलावा तो और भी कई नगरों से आया हुआ है, पर पहले शायद आपके नगर ही आयें। अपना पता लिखा दीजिए।"

उन्होंने जेब से अपनी डायरी निकाली और उस पर पंजाबी में, मोटे-मोटे बेडौल अक्षरों में मेरा पता लिखा। उन्होंने मेरा नाम भी ग़लत लिखा और 'बंबई' भी। मैंने चलचित्र-विभाग की मार्फ़त अपना पता लिखवाया था। 'चलचित्र-विभाग' लिखते समय उन्हें काफ़ी कठिनाई हुई और उसकी जगह जो शब्द लिखा वह 'चलचित्र-विभाग' नहीं पढ़ा जाता था।

मैंने मन में कहा, "संत जी, आपकी लिखी हुई चिट्ठी मुझे ज़रूर मिल जायगी।"

उस दिन बाक़ी काम खत्म करते हुए अँधेरा हो गया। मैं बहुत थकान महसूस कर रहा था, पर ख़ुश था। गुरनाम भी थका हुआ था और उसके चेहरे पर उदासी थी। वह बड़ी अजीब सी उदासी थी, जैसे आदमी का कोई नुक़सान हो गया हो और वह बेबस बना हुआ बहुत उदास हो। उसका चेहरा मुझे पहले की अपेक्षा ज़्यादा उतरा हुआ लगा। उसकी आँखों में गहरी धुंध दिखायी दी। मैंने पूछना चाहा कि क्या बात है, पर कुछ सोच कर चुप रहा।

काफ़ी रात हो गयी तो घर में गुरनाम और मैं अकेले ही रह गये। उस समय घर खाली-खाली सा लगा। तीन दिन तक एक अलग ही दुनिया बसी हुई थी घर में। गहमागहमी रही थी और दौड़-धूप। सो उस समय घर और भी ख़ाली सा लगा; और भी चुप।

"क्या बात है ?" कुछ देर की चुप के बाद मैंने गुरनाम से पूछा।

गुरनाम चौंका। "क्या बात है ?" उसके मुँह से ऐसे निकला, जैसे वह मेरी बात समझ न पाया हो।

"बहुत चुप हो" मैंने कहा।

"नहीं तो" वह कुछ सम्हला।

फिर वही चुप।

कुछ देर के बाद उसने कहा, "बड़ी थकान है।"

"हाँ," मैंने कहा, "अखंड पाठ की थकान है।"

"कई दिन तक यह नहीं उतरेगी।"—उसने कहा।

"नहीं, आज रात भर की नींद के बाद उतर जायगी।"—मैंने कहा।

"लगता है, आज नींद नहीं आयगी।"

"क्यों ?" मैंने ध्यान से उसकी ओर देखा।

"पता नहीं।"—उसने कहा।

"क्यों ?"—मैंने फिर पूछा।

"मैं सोना चाहता भी नहीं।"—उसने कहा।

"तो ?"

"आज की रात जाग कर काटना चाहता हूँ।"

"तो ठीक है," मैंने कहा, "बातें करते हैं। अखंड पाठ में तो खास बातें हो भी नहीं सकीं।"

वह एक क्षण चुप रहा; फिर बोला, "अगर तुम न आते तो आज की रात बहुत मुश्किल से बीतती।"

"आता क्यों न ?" मैंने कहा।

"बहुत अच्छा किया जो तुम आ गये।"—उसने कहा।

"आता क्यों न!"—मैंने फिर कहा।

वह चुप हो गया।

मुझे लगा, उसके मन पर कोई बोझ था, जिसे वह उतारना चाहता था। मैं प्रतीक्षा करने लगा।

काफ़ी देर की चुप के बाद उसने कहा, "दीपो के मरने के बाद बहुत अजीब सा लग रहा है।"

"हाँ," मैंने कहा, "उसके साथ तुम्हारी ज़िंदगी एकदम भर गयी थी।"

वह एक क्षण चुप रहा। फिर बोला, "दीपो के मरने के बाद मैंने तुम्हारी 'अलविदा' कविता कई बार पढ़ी है। अनगिनत बार पढ़ी है। आज तुम यहाँ हो तो तुम्हारे मुँह से सुनना चाहता हूँ।"

यह कविता मैंने एक लड़की के बारे में लिखी थी, जो मेरी ज़िंदगी में आ कर चली गयी

थी। पर काफ़ी लंबी कविता थी, जिसमें उसके जाने का एहसास इतना नहीं था, जितना उसके होने का एहसास था। फिर भी वह कविता उसके जाने के बारे में ही थी।

मैंने टालना चाहा। मैंने सोचा, कविता इसकी उदासी को और बढ़ा देगी। और मैंने कहा, "अब शायद पूरी याद न हो। कल सुनाऊँगा।"

"जहाँ भूलोगे, मैं याद करा दूंगा," उसने कहा, "मुझे ज़बानी याद है। सुनाओ तुम।"

अब क्या चारा था!

मैं कविता सुनाने लगा।

वह कविता सुन रहा था और दीपो को अपने जीवन में महसूस कर रहा था। उसकी आँखों की उदासी आँसू बन गयी थी।

कविता खत्म हो गयी तो वह उसी तरह एकटक सामने देखता रहा, जिस तरह कविता सुनता हुआ देख रहा था।

मैं चुप था।

कुछ देर बाद उसने मेरी ओर मुँह मोड़ा और पूछा, "तुम्हें कैसा महसूस होता है यह कविता पढ़ कर?"

मैंने कहा, "अलविदा ही महसूस होती है, जो अलविदा नहीं है।"

वह हल्का सा मुस्कराया। वह मुस्कराहट मुझे बड़ी अजबी सी लगी।

तभी उसने कविता की पहली पंक्ति बोली। फिर दूसरी बोली। फिर तीसरी। और फिर वह एक-एक कर के अगली पंक्तियाँ बोलता गया। अब वह फिर सामने दीवार की ओर देख रहा था और कविता बोले जा रहा था।

उसके मुँह से अपनी कविता सुनते हुए मुझे कविता के बारे में और उस लड़की के बारे में ऐसा अहसास हुआ, जो कविता लिखते या बाद में कई बार पढ़ते-सुनाते हुए कभी नहीं हुआ था।

कविता खत्म कर चुका तो उसने कहा, "इस कविता को पढ़ कर मन भर आता है, पर मन हल्का भी हो जाता है। बहुत बड़ा बोझ था आज मेरे मन पर, और वह बोझ पत्थर की तरह ठोस बना हुआ था। पर अब लगता है कि मैं हल्का हो गया हूँ।" वह धीमे से मुस्कराया, "अब सोचता हूँ, इस अखंड पाठ की जगह, जिस पर तीन, सवा तीन सौ रुपये लग गये हैं, तुम्हें बुला कर यह कविता सुन लेता तो ज़्यादा हल्का हो जाता।...पर चलो, जो हो गया सो हो गया। तीन, सवा तीन सौ रुपये इसी में जाने थे, सो चले गये। वैसे इतने रुपये...पर ख़ैर, अब चिंता क्यों करूँ।"

"हाँ," मैंने कहा, "मुझे बुला लेते, या हफ़्ते की छुट्टी ले कर मेरे पास आ जाते।"

"यह तो ख़्याल ही न आया।"—उसने पछतावे के अंदाज़ में कहा, "मेरी तो जैसे अक़्ल ही मारी गयी थी। पर ख़ैर, अब तुम्हारे साथ ही चला चलता हूँ—तीन-चार दिन के लिए। यहाँ कुछ दिन मेरा दिल नहीं लगेगा। सो, कल सुबह ही यहाँ से चले चलते हैं। या अभी रहने का ख़्याल है तुम्हारा?"

"यहाँ मुझे क्या करना है," मैंने कहा, "सुबह की गाड़ी से ही चले चलेंगे।"

वह हल्का हो गया था।

कुछ देर के बाद उसने कहा, "तो अब सो जायें।"

"ठीक है।"

वह लेट गया और कुछ ही देर में उसे नींद आ गयी।

मैं उसकी ओर देखता रहा। अब उसके चेहरे पर कोई उदासी नहीं थी। उसके मन का बोझ भी जैसे उतर गया था---इन तीन, सवा तीन सौ रुपयों के खर्च हो जाने का बोझ, जिसने उसकी उदासी को और भी बढ़ा दिया था। अब वह बहुत हल्का हो गया लग रहा था और गहरी नींद में सोया हुआ था।

---निर्मल निवास, सुनारी रोड,
विले पार्ले, बंबई --५७।

अनंत

कहानी में यथार्थ और समय-बोध

समय को क्षणों में न बाँट कर उसे संपूर्णता में कैसे जिया जाता है, इसका भी कुछ कहानीकार यत्न कर रहे हैं। इन्हें लगता है कि समय एक संपूर्ण इकाई है (जैसा कि सापेक्षतावाद कहता है) और विज्ञान या चिंतन में जो है, वही जीवन में भी है। ऐसा मानने में कोई हानि तो नहीं है, (हानि तो जो अपने जैसा सोचने वाले न हों उन्हें काट कर अलगाने में भी नहीं है) किंतु मनुष्य समय को अपने भरसक बाँट कर ही जीता है या अगर वह संपूर्णता में जीना भी चाहे तो जी नहीं सकता। क्योंकि समय की विराटता उसके मानसिक अंकोर में नहीं आती। समय को अपनी संपूर्णता में बाँध सकने का दावा या यत्न ही हवा को मुट्ठियों में बंद करने जैसा ही है, क्योंकि समय अगर एक संपूर्ण इकाई है तो वह हमारे नक्षत्र से ऊपर सैकड़ों अन्य ग्रहों तक व्याप रहा है और जो अपनी पूर्णता में इस पृथ्वी तक है भी नहीं, उसे उसकी संपूर्णता में जी सकना उन्हीं लोगों के लिए संभव है, जो स्वयं परब्रह्म हों। इसलिए समय अपने आपमें कितना ही अटूट क्यों न हो, उसे इकाइयों में बाँट कर ही लोग जीते हैं। और इसमें नियति को बीच में फँसाने की ज़रूरत तो नहीं मालूम पड़ती, किंतु जो स्वतः अपने चिंतन के व्यूह में भरम रहे हों वे दूसरों पर अपनी अवशता को आरोपित क्यों न करें।

ये लोग दूसरों के सिर विभ्रम का सारा दोष मढ़ कर अपने को एकदम बरी कर लेते हैं, जब कि सचाई यह है कि धुंध पैदा करने में स्वयं उनका हाथ कम नहीं है, कहीं-कहीं तो ज़्यादा ही है—और जब वे दूसरों के द्वारा उढ़ाये गये सवालों की जवाबदेही इसलिए नहीं समझते कि उन्हें सवालों के अंदर झाँकने में भी कँपकँपी होती है, तब वे सवालों से इस तरह आँख मूँद लेते हैं मानों ऐसा करने से ही वे सरहपा या लुइपा जैसे सिद्ध बन जायँगे।

हमारा कहना यह है कि विभ्रम वहीं से शुरू हुआ, जब नयी कहानी अपने को वैसा दिखलाने के लिए 'मेक-अप' करती रही, जो वास्तव में वह नहीं थी। यानी कथ्य को ओट करने की बात तो वहीं की गयी मगर जिस अनुभूति के संप्रेषण का शोर किया गया, एक तो वह अनुभूति ही बहुत छिछली थी, दूसरे जिस शिल्प को उसका वाहन बनाया गया वह अनुभूति से दूर छिटकी हुई मालूम पड़ने लगी। नतीजा वही हुआ जो अपेक्षित था कि संधान में सफलता की कौन कहे, तीर प्रत्यंचा पर ही न चढ़ाया जा सका। और हाथ की उँगलियाँ अकड़ गयीं; बल्कि सुन्न हो गयीं। इसीलिए लाज छिपाने के लिए कहा जाने लगा कि लक्ष्य-बेध का वक़्त अभी नहीं आया।

यह सारा का सारा 'स्वाँग' हिंदी कहानी के पाठकों को पहले तो कुछ अजब तमाशे जैसा लगा किंतु जब उन्होंने देखा कि तीर भी टूटा हुआ है प्रत्यंचा तक चढ़ा सकने का सामर्थ्य भी ग़ायब है और लक्ष्य का तो लक्ष्य, वेधने वाले का भी पता नहीं तो उन्होंने इस बुरी तरह उपहास करना शुरू किया कि 'स्वाँग' करने वाले हैरत में पड़ गये।

समय के गर्त में फँसी अवास्तविक नयी कहानी को दोहरी मार सहनी पड़ी; एक नयी कहानी के वास्तविक प्रतिनिधियों से, जो शिल्प को कथा में घुला देते थे, दूसरे एकाध उन लोगों द्वारा जो अपने परिवेश में डूबने पर भी अपने को परिवेश से अलग कर यथार्थ को बिंबित कर सकने में समर्थ थे और उनकी सहजता अधुनातन जीवन-आवर्तों को समेट कर रूपायित कर रही थी मगर जो संयोग से किसी भी समुदाय में दीक्षित न हुए थे। नयी कहानी के मठाधीशों ने अपनी समझ से उन दो-एक स्वतंत्रचेता कहानीकारों को 'अकेले' पा कर कहानी से बाहर ही ढकेल दिया था। कहानी में सचेतन वृत्ति से हमारा तात्पर्य किसी पत्रिका विशेष में हुड़दंग मचाने वालों से कभी नहीं रहा बल्कि नयी कहानी गतिमान जीवन को जो थिरता में चित्रित कर रही थी उसे झुठला कर समकालीन जीवन को उसकी संपूर्ण जीवंतता या तीव्रता में व्यक्त कर सकने से ही रहा। इसीलिए सचेतन दृष्टि उन कहानीकारों में नहीं मिल सकती जो मात्र किसी आंदोलन के मोह से कहीं एकत्र हो गये हों वल्कि यह उन इने-गिने कहानीकारों की कहानियों में मिलती है, जो समकालीन जीवन को उसकी समग्रता में देखने का भरसक यत्न करते हैं। (पूर्णता में बाँध सकना तो संभव भी नहीं है) मगर उसकी अलग-अलग इकाइयों को जितनी तीव्रता से महसूस करते हैं उतनी ही सहजता से उसे कला में उतार देते हैं। प्रबुद्ध जन अनर्गल प्रलाप करने वालों या बिना किसी कृतित्व के कृतिकार वनने की लालसा रखने वालों की ओर ध्यान नहीं देते—ऐसे लोग तो हर साल बनते-मिटते रहते हैं—किंतु यदि साहित्य की कोई विधा सचमुच ही किसी ओर से नवीन संदर्भों को प्रस्तुत करने लगी है तो उसकी ओर से महज़ अपने स्वार्थ के कारण उदासीन भी नहीं हो जाते।

फिर अनुभूति की प्राप्ति कैसे होती है? उसे कहानी में घुलाने के लिए क्या सब कुछ भौतिक रूप से जीना अपेक्षित है? इसके जवाब में लोग 'हाँ' कहने लगे हैं। ये वही लोग हैं जिन्हें स्वयं भौतिक रूप से संवेदना की प्राप्ति नहीं होती किंतु अपनी ईमानदारी दिखाने के लिए वे इसे कहना ज़रूरी मानते हैं। प्रत्येक दशा में अनुभूति की तीव्रता भौतिक सहयोग से मिलती हो—ऐसा यदि होता तो जिन्हें ऐतिहासिक रचनाएँ कहते हैं वे लेखक की स्वानुभूति से अलग हो जायँगी और कितनी ही कृतियों (जैसे रांगेय राघव, आनंदप्रकाश जैन आदि की ऐतिहासिक कहानियों) का मूल्य समाप्त हो जायगा। इसलिए यह तो अच्छा ही है कि कहानीकार उस स्थिति से स्वयं गुज़रे जिसे वह कलावद्ध करना चाहता है क्रिंतु न भोगने पर भी वह उसे उतनी ही तीव्रता या शक्ति से उतार सकता है जितना भोगने पर। अनेक स्थितियाँ मानसिक तौर पर भी जियी जाती हैं और यह कहानीकार की सूक्ष्म दृष्टि, उसकी पकड़, उसकी भाषा के सामर्थ्य पर आधारित है कि उन्हें अधिक से अधिक स्वाभाविक बना दे। वेश्या पर लिखने के लिए वेश्यागामी होना ज़रूरी नहीं; मज़दूर पर लिखते समय स्वयं किसी कारखाने में मज़दूर होने की भी दिक़्क़त उठानी ही

पड़े, यह भी ठीक नहीं लगता। कहानीकार बहुत कुछ पढ़ कर, दूसरों से सुन कर भी ठीक वैसी ही स्थिति चित्रित कर सकता है जो अन्य स्वयं वैसा जीने की तक़लीफ़ गवारा करने पर भी नहीं कर सकते। यदि लेखक की अंतर्दृष्टि सूक्ष्म न हुई, वह बिंब ग्रहण कराने भर के लिए सक्षम नहीं है तो वह चाहे जितना भोगे, उसे सहज रूप से आबद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि स्थिति को भोगने के बाद भी उसे रूप देना तो उससे अपने को काटने के बाद ही संभव है न!

तभी तो जीवन में जो गंभीर है, वह अत्यंत रोचक स्थितियाँ खड़ा कर सकता है, जो जीवन में अत्यंत मुखर है वह घोर हृदयविदारक दृश्य उरेह सकता है हालाँकि इसकी संभावना कम ही रहती है। जो मुखर है वह भी अलग अपने में डूबने पर ही गहराई तक जा सकता है। इसलिए थोथे बहिर्मुखी लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं कि कहानी में या किसी विधा में कुछ भी सहज या स्वाभाविक बनाने के लिए उन स्थितियों का भौतिक संसर्ग आवश्यक है। कहानीकार की चेतना के स्तर जितने ही बारीक होंगे वे कहानी को उतना ही ग्राह्य या तीव्र बना ले जायेंगे। इस चेतना के तीव्र होने के लिए न केवल अध्ययन जरूरी है बल्कि खुले दिमाग से चिंतन भी। चिंतन का यह सौभाग्य उनके हाथ नहीं आता जो वस्तुओं या स्थितियों या जीवन की बदलती प्रक्रिया को ऊपर-ऊपर से ही देख कर रह जाते हैं या उतनी ही देख पाने की उनमें क्षमता होती है। इसी के लिए मानसिक रूप से कभी नितांत अकेले जी सकने से कुछ बिगड़ता नहीं बल्कि वह मन में बिखरी स्थितियों को मज़बूती से एकसूत्र करने में मदद भी देता है।

आज हिंदी कहानी में जो खींचातानी हो रही है वह विचारों के स्तर पर कहानीकारों की चेतना की सूक्ष्मता और स्थूलता को भी दरसाती है। इनमें से यदि उन लोगों को छोड़ भी दें जिनका बौद्धिक स्तर नगण्य है तो अन्य जो लोग अपने को बड़ा सूक्ष्म समझते हैं वे भी अपनी संचेतना के आधार पर ही सूक्ष्मता को ग्रहण करते हैं और इसीलिए कभी-कभी उन लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि वे कहानी को बहुत आगे तक खींच लाये, जो वास्तव में उसे वहाँ तक भी नहीं ले पाये हैं जहाँ तक उनके अग्रज ले जा चुके थे। यहीं हमारा सामना उस प्रबुद्ध पाठक से होता है जो रचना के नयेपन या श्रेष्ठता का निर्णय न केवल पिछले संदर्भों में करता है बल्कि अपने अँकोर में आने वाले समय की संपूर्णता में भी रख कर उससे कुछ पाता है या पाना चाहता है। यह पाठक-वर्ग प्रचार के तमाम साधनों द्वारा आतंकित किये जाने के बावजूद—शायद ही कभी धोखा खाता हो। तभी तो नयी कहानी के नाम पर लिखी गयी उन सैकड़ों कहानियों का आज कोई नामलेवा भी नहीं रह गया। जिनकी श्रेष्ठता सिद्ध करने में काफ़ी मशक़्क़त की गयी और चेख़व की 'ऐंटोगोनिस्ट', प्रेमचंद की 'कफ़न' यशपाल की 'भाषा' और रांगेय राघव के 'ऐय्याश मुर्दे' और 'अज्ञेय' की 'हीलीबोन की बतखें' आज भी ताज़ी कहानियाँ लगती हैं।

समाजी सत्य का यानी समाज की इकाइयों से स्वयंनिर्मित दायरों से जो उभरता रहता है—जिसे कुछ लोग सामाजिक यथार्थ कहते हैं, सामना तो कहानीकार को करना ही चाहिए और उतने से ही वह रचना को काफ़ी उठा सकता है. किंतु कुछ ऐसा भी छूट जाता है जो उसकी परिधि में नहीं आता या यदि आता भी हो तो उसका थोड़ा अंश ही, और काफ़ी कुछ उसके बाहर रह जाता है। वह क्या है? मुझे लगता है कि वह जीवन-सत्य निर्ममता है। सांस्कृतिक चेतना

के सहस्रों वर्ष बाद भी जीवन में कहीं कुछ इतना निर्मम है जो तमाम सामाजिक, पारिवारिक रिश्तों को तोड़ कर मनुष्य को दहला देता है। प्रेमचंद यदि 'कफ़न' न लिखते तो मैं समझता कि वे वहाँ तक नहीं पहुँच सके। चेखव और मोपाँसा तो कई बार उस तक पहुँचे थे और इधर स्टीफेन ज़्विग भी, बल्कि ज़्विग का सपत्नीक आत्मवध जीवन के किसी निर्मम सत्य से भय ही माना जा सकता है। कामू और काफ्का तो ख़ैर उस कोटि के लेखक ही नहीं हैं ? हाँ, सार्त्र 'द वाल' और 'एक्सटैसी' में उसे देख पाये थे। यशपाल उस निर्ममता को दरसा सकने में चेखव से पीछे नहीं हैं, भले ही उनका गद्य उतना लचीला न हो जितना 'अज्ञेय' का है जिससे 'अज्ञेय' 'कुछ नहीं' को भी गंभीरता का बाना पहना देते हैं। और ऐसा कर पाना भी सामान्य बात नहीं है।

जीवन के उन सत्यों तक पहुँचना जो सामाजिक दायरे में नहीं आते, साधारण कहानीकारों के वश की बात नहीं क्योंकि वे अपने से, समाज की रूढ़ियों से तथा बहुत सी अन्य बातों से डरते हैं और यदि वे उसे जानते भी हों तो व्यक्त नहीं कर सकते। किंतु यह सब यदि कलात्मक सौंदर्य के बदले हो तो उस ओर क़दम बढ़ाना ग्राम्य या सस्तेपन के निकट पहुँचना होगा जो हिंदी कहानी में आज धड़ल्ले से हो रहा है और जिसे मैं विनम्रतापूर्वक साहित्यिक परिधि से बाहर मानता हूँ।

साहित्यिकता की अपनी एक परिधि है; भले ही वह इतनी लचीली हो कि समय-सापेक्ष बनती रहे। इसलिए बड़े भोंड़े तौर पर अपने अंचल की भाषा से बार-बार बघारने से कोई पदार्थ सुस्वादु नहीं हो जाता। पहले भी मैं इस बात को कह चुका हूँ और वही दुहराता हूँ कि विभिन्न अंचलों के जीवन को कहानी में अंकित होना है—कुछ हो भी रहा है—किंतु वह अधिकांश बाज़ारू ढंग से हो रहा है जिसमें कलात्मक सौंदर्य होता ही नहीं। जिसे हम हिंदी कहते हैं, वह अपनी आंचलिक बोलियों की चेरी नहीं है कि आप आंचलिक जीवन पर लिखते समय उसमें कुघड़ता और देहातीपन से जो चाहें भरते चले जायँ। इस दृष्टि से प्रेमचंद आज भी हमारे गुरु हैं कि उन्होंने हिंदी के मूल सौंदर्य को क्षति न पहुँचाते हुए भी अंचल की भाषा को ऐसा लचका दिया कि लगे जैसे वेतबनों में बेतों की धजाएँ नम कर अपने ही जल में उझक-उझक कर झाँक रही हैं। हिंदी का नैसर्गिक सौंदर्य उन्होंने क़ायम रखा। आंचलिक कहानियों के नाम पर जो कुछ दिया जा रहा है वह बड़े भद्दे और अकलात्मक रीति से प्रस्तुत होता है। उससे कहानी की कोई वृद्धि हुई हो, ऐसा मैं नहीं मानता। ऐसा करने वाले ये समझते हैं कि अपने अंचल विशेष के साहित्यिक प्रतिनिधि हैं, इसलिए आंचलिक भाषा को तोड़-मरोड़ कर, उसे क्षत-विक्षत करने का उन्हें पूरा हक़ है, जिसे वे बड़ी तत्परता से निबाहे जा रहे हैं। मार्कंडेय की कहानियों में भाषा को अधिक तोड़ने का यत्न नहीं था किंतु उनके साथ कठिनाई यह थी कि वे अपने अंचल की भाषा से भले ही परिचित हों वहाँ के जीवन से उनकी उतनी घनिष्ठता नहीं थी।

जिन जीवन-सत्यों का ज़िक्र मैंने किया है उन्हें अपनी कहानियों में उद्घाटित करने का साहस नयी पीढ़ी के इने-गिने कहानीकारों में रहा है और पूरी निःसंगता से वे भी कर नहीं पाये किंतु सोबती ('बादलों के घेरे'), धर्मवीर भारती ('सावित्री नंबर दो'), अमरकांत ('दोपहर का भोजन'), मन्नू ('यही सच है') और सत्येंद्र शरत् ('एवेन्यू') तथा उषा ('कोई एक दूसरा') में

प्रयत्न अवश्य हुए। इनमें अमरकांत में भावुकता सबसे कम थी किंतु भाषा को वे सँवारते-साधते नहीं रह सके। किंतु कुछ तो देसी परिस्थितियों और कुछ यूरोप-अमरीका से आयातित 'भय' से निर्मल वर्मा को लगने लगा कि अकेलापन ही एकमात्र नियति है। रामकुमार में जो एक तरह की ऊब थी वह स्वयं उनकी चित्रकला का उनकी कहानियों पर प्रभाव था और पश्चिम से वह कर आती हुई अकेलेपन की हवा में साँस लेना निर्मल को अत्यंत प्रिय था; रामकुमार को इस ऊब से बड़ा सहारा मिला और निर्मल उसे अभिव्यक्त करने में रामकुमार से बाज़ी मार ले गये। यहाँ यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि निर्मल में वह निर्ममता भी मिलती है तो सामान्यता से भिन्न होती है; भले ही उनकी भाषा में कुछ अधिक कसाव हो।

इधर वे लोग, जो कहानी में किसी तरह जी रहे हैं और कविता में एकाध तुक्का लगा चुके हैं मगर हाथ कुछ नहीं आया, कविता को साहित्यिक विधा नहीं मानते। ऐसा उस बात की प्रतिक्रिया में वे कहते हैं जो कुछ लोग कहानी का विरोध करते हुए कह चुके थे। यह बात अलग है कि संसार का ढाई-तीन हज़ार साल पुराना साहित्यिक इतिहास बतलाता है कि आज से नहीं, बहुत पहले से कितने साहित्यिक कई विधाओं को बड़ी सहजता से निखार गये हैं। किंतु कुछ तो ऐसा कहना ही चाहिए जिससे लोग चौंकें, चौंक कर बुरा-भला कहें और ग़लत तो कहा नहीं गया है कि बदनाम भी होंगे तो क्या नाम न होगा! सचाई यह है कि कहानी और कविता अलग विधाएँ हैं अवश्य मगर उनका कलेवर भिन्न होते हुए भी वे यथार्थ को व्यक्त करने के ही दो माध्यम हैं। वह लेखक की संवेदना और सामर्थ्य पर निर्भर करता है कि वह किनका उपयोग करे और करे भी तो कैसा?

अब स्थिति आ गयी है जब कहानी या कविता में प्रयुक्त 'मैं' का अर्थ भी लेखक स्वयं न हो कर दूसरा कोई हो। 'मैं' इसलिए तो ठीक है कि उससे लेखक अपने और पाठक के बीच की दूरी को खिसका कर उसका आत्मीय बन जाय किंतु तब भी यह लगते हुए सी कि जो कुछ 'मैं' के माध्यम से कहा जा रहा है वह उसका स्वयं जिया हुआ है पर जो वास्तव में उसके जीवन का नहीं दूसरों के अर्थात सामान्य के जीवन का होना चाहिए। इस 'मैं' में वह निरपेक्षता आनी चाहिए जो श्रेष्ठ रचना को सामान्य पाठक को 'अपनी' लग सके। उनकी तो नहीं कहता जो लेखक नहीं हैं किंतु होने का घनघोर प्रचार करते हैं और दूसरों को इतना बुद्धू समझते हैं मानो उनके कनफोड़ शोर से ही लोग उन्हें लेखक मान लेंगे किंतु उनके लिए उस 'मैं' को भी निजता से मुक्त करना संभव होता है जिसे 'अज्ञेय' सिद्ध साहित्यिक कहा करते हैं। इस सिद्धि की, कहानी या कविता द्वारा, प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए और बार-बार विफल होने पर भी उसमें लगे रहने से वह हाथ से नहीं छूट पायेगी। यशपाल की 'पराया सुख' और 'होली नहीं खेलता' में तथा उषा की 'कोई एक दूसरा' में ऐसे प्रयास हुए हैं। ऐसे प्रयास उन लोगों के हाथों में बड़े हास्यास्पद बन जाते हैं जिनका गोचर वस्तु-जगत से भी एकदम स्थूल संबंध है और जो संपूर्ण भाषा और अलग-अलग शब्दों और उनकी ध्वनि-शक्तियों को तनिक भी नहीं पहचानते। इन सबके लिए अध्ययन से ही काम नहीं बनने का—वह तो बहुतेरे अध्यापक कर सकते हैं और करते ही हैं—बल्कि उस निरपेक्ष चिंतन की भी अपेक्षा है जहाँ संस्कारगत लगाव रचनाकार को छुएँ तो, मगर ज्यादा दिक न करें और उसकी कृति को किसी

मी तरफ़ से दबायें नहीं। ऐसा करने में अपेक्षित फल न मिलने पर जो हार मान लेते हैं उन्हें असामान्य रचनाकार मान लेना कठिन है और आज तो हिंदी में—चाहे वह कहानी हो, चाहे कविता —ऐसे ही लेखकों की बाढ़ आयी हुई है जो प्रयास तक नहीं करते—शायद कर ही नहीं सकते— किंतु अपने को 'पहुँचा हुआ साहित्यिक' मनवाने में पसीने-पसीने हुए जा रहे हैं। किंतु संभव है, इन्हीं काइयों और कुकरमुत्तों के बीच से कोई ऐसा पौधा उगे जो फलदायक हो।

यहीं स्थानकिता का प्रश्न आ खड़ा होता है। अपने परिवेश से ऊपर उठ कर क्या उस 'शुद्ध मानव-मन' की पकड़ हो सकती है जो देश-काल से परे हो या सभी समाजों में उसका प्रभाव एकसाँ हो? कुछ कहानीकारों की यंत्रणा मैं समझता हूँ। निर्मल वर्मा वैसा करना चाहते हैं। अपने आसपास के मच्छरों की भिनभिनाहट के बावजूद सीमाएँ तोड़ कर वह पाना चाहते हैं जो अलभ्य हो किंतु क्या वे पा सके? क्या स्थानिकता से मुक्त वह 'मानवीय स्थिति' संभव हो पायी है जो सब ओर के लोगों में समान रूप से देखी जा सके? छठीं इंद्रिय समेत इंद्रियों द्वारा किसी ऐसे मानव-मन को बाँध कर कलाबद्ध नहीं किया जा सका, जो विश्व के सभी भागों में एक ही तीव्रता से ग्राह्य की जा सके। इसलिए परिवेश से मुक्ति का यत्न तो ठीक है किंतु अभी कुछ वैसा मिला नहीं है। उसके अतिरिक्त स्थानिकता से मुक्ति का अर्थ है अपने समाज से कट जाना और एकदम आत्मकेंद्रित हो जाना। यह आत्मकेंद्रित स्थिति विचारों की दरिद्रता के सिवा और कुछ नहीं दे सकती, जिससे कृतिकार की रचनाओं में ताज़ापन नहीं रह जायगा। रचनाओं में विविधता को बनाये रखने के लिए कहानीकार को अपने जीवन के दायरों को भी बढ़ाते जाना चाहिए और बार-बार यह कहने से काम नहीं चलने का कि औद्योगिक संस्कृति ने जीवन का सारा स्रोत महा-नगरों में क़ैद कर रखा है इसलिए क्या करें, हम मजबूरन वहीं पर लीक पीट रहे हैं।

इधर हिंदी में कहानीकारों का एक ऐसा जत्था तैयार हुआ है, जो महानगर संस्कृति को ही मानवीय संस्कृति का पर्याय समझता है मानो आदमी महानगरों में ही रहते हों, बाक़ी छोटे नगरों या गाँवों में रहने वालों से मानवीयता ग़ायब हो गयी हो। ठीक है, नगरों में जो कुछ हो रहा है उसको कलाबद्ध करना—अगर ठीक ढंग से हो सके—उचित ही है किंतु रचना का महत्व इस पर निर्भर करता है कि वह जिस स्थान की है उसकी कितनी गमक रचना में आयी है और वह कितने सुथरे किंतु संश्लिष्ट ढंग से अभिव्यक्त हुई है। चेखव की अनगिनत कहानियाँ गाँवों के जीवन पर हैं जब कि उनके समय में भी मास्को और पीटर्सबर्ग जैसे बड़े नगर थे। प्रेमचंद भी अपने समकालीन नगर और ग्राम दोनों को निकट से जानते थे। रवि ठाकुर को गुज़रे अभी ज़्यादा दिन नहीं हुए और कलकत्ता महानगर बन चुका। ज़्विग की कितनी ही उत्तम कहानियों में गाँव या क़स्बे ही हैं। यशपाल की अधिकांश कहानियों की पृष्ठभूमि लखनऊ, शिमला या मसूरी जैसे छोटे नगर हैं महानगर नहीं। तो क्या इन लोगों को कहानीकार न माना जाय?

यह ठीक है कि औद्योगिक संस्कृति की जड़ें ज्यों-ज्यों देश में गहरी होती गयीं, त्यों-त्यों ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होती गयीं जिन्होंने व्यक्ति की पुरानी मान्यताओं को धसका दिया। किंतु यह कार्य-व्यापार केवल नगरों में ही नहीं, गाँवों में भी हो रहा है और जाहिर है कि वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन होंगे। जो औद्योगिक संस्कृति को केवल बंबई-कलकत्ता-दिल्ली में ही

देखते हैं, वे मशीनी युग के सर्वव्यापी रूप को बिसार देते हैं। इसलिए गाँवों या क़स्बों में बदलते व्यक्ति या समाज को अपनी कहानी का उपजीव्य बनाना कहानी को आधुनिकता से हीन करना नहीं है।

किसी भी रचना की श्रेष्ठता का आधार उसका परिवेश या वर्ग या समाज नहीं है बल्कि यह है कि जिस परिवेश का चित्रण किया जा रहा है वह कितनी बारीकी से रचना में संग्रथित हो सका है। जिस वर्ग को उतारा जा रहा है वह कितनी यथार्थता से रचना में प्रतिबिंबित है और उसमें जीने वाले व्यक्ति की मनोदशा को कितनी गहनता और निःसंगता से उद्घाटित किया गया है। इसलिए शहर या ग्राम से खिसक कर रचना की श्रेष्ठता उसके प्रस्तुतीकरण और रूपबद्धता में समाहित हो जाती है। पहले कुछ मार्क्सवादियों ने भूल से रचना की श्रेष्ठता का आधार विषय या स्थान मान लिया था, जिसका कुफल यह निकला कि नगर या मजदूर पर लिखी जाने वाली वे रचनाएँ जिनका जीवन की जटिलता या वास्तविकता से कोई रिश्ता न था, मात्र विषय के कारण सराही गयीं। जब तक युगबोध से जीवन की 'निरंतर संचेतना' को मिलाते न चलिए तब तक कुछ काम नहीं बनने का।

व्यक्ति अलग इकाई होते हुए भी विराट सामाजिक शक्ति का ही एक अंग है और वह विराटरूपा शक्ति इन्हीं अलग-अलग इकाइयों से वैसी बनी है जिसमें और समाज में इस तरह का तालमेल है कि एक का बदलना दूसरे से जुड़ा हुआ है। इस रिश्ते को समझना, साथ ही उसे रचना में झलकाते जाना जितना सरल दीखता है उतना है नहीं। तभी तो जिन कहानियों पर ख़ूब चर्चाएँ चलती हैं वे कभी-कभी चर्चाओं से कम समय में ही भुला दी जाती हैं। चर्चाओं की बहुलता और कहानियों की, विशेष रूप से नयी कहानियों की क्षीण आयु एक तरह से उस 'कैंप' के गतिरोध या (अब तो) मृत्यु को ही सूचित करता है।

यथार्थ के हाथ न आ सकने से उन्हें जो अनास्था मिली है उसी ने प्रवंचना की खोल ओढ़ लेने के लिए भी कहा है, तभी उन्हें लगता है कि जो यथार्थ को अलग देखने की बात करते हैं वे भ्रम में हैं और इसीलिए दूसरों की बात को तोड़-मरोड़ कर उनका उत्तर देने में ही उन्हें आनंद आता है और अगर ऐसा न करें तो जो लोग 'अकेलों' को सदा अस्वीकारते रहे हैं उन्हीं के सर आत्म-निषेध का दोष क्यों मढ़ें। ऐसा इसलिए भी हो शायद कि कहानी को कोई मोड़ न देने के बावजूद इकाई के बदले 'दहाई' या तिहाई होने से ही वे अपने को जयी समझें। समझें, किंतु भ्रम तो न फैलायें कि उनके विफल हो जाने पर कहानी का अंत हो गया या कहानी दिशाहारा हो उठी है। बेमतलब के हुल्लड़बाज़ों से अलग ही हट कर वे लोग हैं जो कहानी को 'नयी कहानी' के छल से मुक्त करने के यत्न में हैं। इनमें कितने अपने सुकार्य में कब तक जुटे रहेंगे, यह कहना तो संभव नहीं किंतु शिवानी, जगदीश चतुर्वेदी, रामनारायण शुक्ल, अवधनारायण सिंह, छेदीलाल गुप्त, प्रयाग शुक्ल, सुरेंद्र मल्होत्रा, ललित सहगल, योगेश गुप्त, महीप सिंह, सुरेश सिन्हा, शशिप्रभा शास्त्री, शक्तिपाल केवल, गंगाप्रसाद विमल की कुछ कहानियों ने कहानी को नवीनतम संदर्भों में रूपायित करने का यत्न किया है। जो लोग निरर्थक शोर मचा रहे हैं उनसे कहानी को कोई धक्का नहीं पहुँचेगा क्योंकि उनकी चीख-पुकार उनकी दयनीय असमर्थता को ही प्रकट करती है।

दृश्यमान समाज में संनिहित सत्य को अंतर्दृष्टि से पहचान कर उसे पूर्ण निरपेक्षता से कहानी में बाँध देना ही उसको श्रेष्ठ बनाना है और ऐसा करने के लिए न तो गुट बनाने से कुछ हाथ आयेगा, न निरर्थक शोर से बल्कि इससे कि जीवन में खूब गहराई तक झाँकते हुए भाषा को इतनी 'टेम' कर लेने से कि वह हर सत्य जो दिखे या अनुभूत हो, उसे बाँधती चली जाय। यही चेखव और ज़्विग ने किया था, यही प्रेमचंद और रवि ठाकुर ने, यही यशपाल, 'अज्ञेय' और रांगेय राघव ने किया। अब देखना है, हममें से वह कर सकने में कौन कितना समर्थ है!

—एम० ६३, कीर्तिनगर, नयी दिल्ली–१५।

रामनारायण उपाध्याय

लघुकथा

फ़सलों की शरारत

आसमान ने जब वर्षा से बादलों की गीली चादर को शरद की सुहावनी धूप में सूखने के लिए डाल दिया तो चौमासे अपने मैके में सुख के झूले झूलने वाली फ़सलों के मन में भी अपने घर लौटने की याद जगी।

सावन के महीने बड़े जतन से ओढ़ी हरे रंग की चुनरी को धान में सहेज कर एक ओर रख दिया और वह प्रौढ़ा की तरह पीले वस्त्र पहन कर खेतों की सुनसान डगर से अपने घर जाने के लिए निकली।

रास्ते में शरारती कपास को न जाने क्या सूझा कि उसने अपने कोट के कॉलर में सफ़ेद रंग का फूल लगा कर उससे छेड़खानी करनी चाही।

किसान ने जब उसकी इस हरकत को देखा तो उसने धान को तो अपने घर में स्थान दिया, लेकिन शरारती कपास को कान पकड़ कर व्यापारी के हवाले कर दिया।

कपास के खेत छोड़ कर चले जाने से तूवर का मन भी अब वहाँ लग नहीं रहा था। मूँग, चौलाई जैसी उसकी अनन्य सहेलियाँ भी उससे पहले ही विदा ले चुकी थीं। लाचार एक दिन वह ज्वारी को खेत में अकेले छोड़ कर गाँव वालों के साथ भाग गयी।

अपने सर पर बालदार कलँगी लगा कर हर किसी का मन ललचाने वाले गेहूँ की बालें भी अब पक चुकीं और उसकी तनिक सी हरकत पर नन्हीं सी मिर्च भी उसे लाल-लाल आँखें दिखा कर धमकाने लगी।

सबसे बड़ा बखेड़ा तो उस दिन हुआ, जब लटलूम वधू की तरह मूँगफली ने हरे रंग का फ्रॉक पहन कर गाँव में प्रवेश किया। इस पर नज़दीकी खलियान में खड़े मक्के ने उसे दाढ़ी हिला कर अपनी ओर आने का इशारा किया। इस पर गाँव वाले इतने बिगड़े कि उन्होंने उसके वस्त्रों को तार-तार कर फाड़ डाला। लेकिन उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि जिसे वे दाढ़ी-मूँछधारी साधु पुरुष समझ रहे थे, उसकी दाढ़ी नक़ली निकली और वह बेशर्म सा दाँत निकाल कर हँस रहा था।

—साहित्य-कुटीर,
ब्राह्मणपुरी, खंडवा (म० प्र०)

रामस्वरूप चतुर्वेदी

जीवन और नयी कहानी

यह एक कांशस डिपार्चर था कि जीवन जो कुछ दिखायी पड़ता है उसे बग़ैर किसी लाग-लपेट के बग़ैर फुलकारी किये हुए, बग़ैर प्रतीक और बिंबों से डायरेक्टली जितना कहा जा सके उसे कहने की कोशिश की जाय और अपनी सच्चाई को कहा जाय। उसे शिल्प की वर्जिश न करायी जाय। यही क्षण हमारी कहानी का कटा हुआ क्षण था, एक सीमित क्षण। वह अपने में एक संपूर्ण क्षण था।

(कमलेश्वर : 'ज्ञानोदय', फ़रवरी १९६६)

प्रतीक, मिथक, अन्योक्ति आदि की चर्चा वास्तविक का अवमूल्यन करती है। अनुभव की जो प्रत्यक्षता है उसके प्रति एक अवमानना का भाव प्रतीक-चर्चा में निहित रहता है। गोया कि जो प्रत्यक्ष है, वास्तविक है, तात्कालिक है, प्रयोगसिद्ध है, उस अनुभव का प्रस्तुतीकरण महत्व-हीन या दिखावा मात्र है और असली अर्थ कहीं भीतर छिपा बैठा है जिसे प्रतीकों के उत्खनन के जरिये बाहर लाना होगा। कहना न होगा कि कथारूपों की मूल संपदा यह प्रत्यक्ष अनुभव ही होता है भले ही वह ऊबड़-खाबड़ या अपरिष्कृत हो।

(देवीशंकर अवस्थी : 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति'—भूमिका)

नयी कहानी के संदर्भ में यह 'बग़ैर किसी लाग-लपेट के' जीवन की सच्चाई को कहने, और 'प्रत्यक्ष अनुभव' पर बल देने की बात बार-बार कही जाती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'जीवन की सच्चाई' और 'प्रत्यक्ष अनुभव' तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतः ही सुलभ है। मुहल्ले के चौराहे पर माँ-बहिन की गाली देते हुए लोग, यौन-व्यापार में रत पशु, कूड़े में से गूदड़ बीनते हुए बूढ़े भिखारी और आकर्षक मुद्राओं में प्रेमियों के युगल—इस / इन सबको लोग सीधे ही देखते हैं। इस देखे हुए दिखाने के लिए किसी कथाकार की अपेक्षा क्यों होनी चाहिए? स्पष्ट है कि 'जो कुछ दिखायी पड़ता है' उसे दिखाना रचनाकार का इष्ट नहीं है। मूल बात है देखे हुए में जो अनदेखा रह जाता है उसे पकड़ना और संप्रेषित करना, प्रत्यक्ष अनुभव के साथ व्यापक कल्पना को संपृक्त करना। यहीं पर अनुभव की विशिष्टता है, और इस विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिए ही ख़ास तरह की भाषा के इस्तेमाल की बात आती है, जिसे प्रतीक या बिंब-विधान आदि कहा जाता है। अनुभव के विशिष्ट तत्व को भाषा के सामान्य-साधारण रूप में इसलिए नहीं व्यक्त किया जा सकता, क्योंकि परंपरित और रूढ़ अर्थों से बँधे हुए शब्द अनुभव के नये आयाम को खंडित कर

देते हैं। यहाँ तक साहित्य मात्र की रचना-प्रक्रिया एक ही होगी, वह चाहे कविता हो या नाटक, उपन्यास हो या कहानी। इसके बाद भाषिक प्रयोग की दिशा और सीमा अलग-अलग होगी, अलग-अलग काव्य-रूपों की प्रकृति के अनुकूल।

सरल कहानी और सरल उपन्यासों में 'जीवन की सच्चाई' और 'प्रत्यक्ष अनुभव' की दुहाई दे कर महज़ घटनाओं को महत्व मिलता है। यह प्रवृत्ति यहाँ तक फैली है कि शायद बंगला के परवर्ती फ़िल्मैया उपन्यासों की 'सफलता' से प्रेरित हो कर हिंदी के कई शीर्षस्थ कथाकार भी इस आसान तरीक़े की ओर झुक गये हैं। यशपाल की बहुचर्चित कथाकृति 'झूठा-सच' इस 'प्रत्यक्ष अनुभव' का ही वृहत संकलन है। एक के बाद एक घटना और जीवन की सच्चाई इसमें 'बग़ैर किसी लाग-लपेट के' रख दी गयी है। पर फिर वही प्रश्न उठता है कि क्या यह साहित्य है ? यों तो सारा का सारा मानव-जीवन ही विभिन्न घटनाओं का क्रम या कि संघात है। पर मनुष्य का जीवन घटनाओं का समुच्चय नहीं है, उसकी एक आंतरिक संगति है जिसे अपने-अपने ढंग से सभी रचनाकार और वैज्ञानिक और दार्शनिक पकड़ने के उपक्रम में रहते हैं। और यह आंतरिक संगति वैसे सीधे ('डायरेक्टली') ढंग से नहीं पकड़ी जा सकती जैसा कि नयी कहानी के पुरस्कर्ता दावा करते हैं। यों 'जीवन में जो कुछ दिखायी पड़ता है उसे बग़ैर किसी लाग-लपेट के' बंबइया फ़िल्में भी कहती हैं, पर उन्हें कला नहीं माना जाता।

—१६७ ए, एलेनगंज,
—इलाहाबाद।

देवेन एकाकी

कहानी

बलि का बकरा

ध्यान कुटि, कुटि ध्यान, ध्यान ध्यान, कुटि कुटि....! चितई के गोल्ल मंदिर के आगे का थल बकरियों से भरा था। पुजारी जीत सिंह और आसपास के गाँवों के सभी ग्रामीण चितई गोल्ल के आगे उमड़ पड़े थे। दोड़म गाँव के प्रधान बीर सिंह ने पूजा डाली थी। बीर सिंह के सबल हाथों में जब हरकू कसाई का बड़्याठ चमकता था, तब बकरियों की मिमियाहट चितई गोल्ल के कानों के पर्दों को भी छेद देता था। नैनू गोधनी ढोली, ढोल-दाबुक और नगाड़ा दमदमा रहे थे—ध्यान कुटि, कुटि ध्यान, ध्यान ध्यान, कुटि कुटि....!

पीठ पीछे छिपाये हुए बड़्याठ को बीर सिंह ने झटके से सामने खींच लिया और एक पैनी दृष्टि उसकी ओर डाली। धार पर तिरछी उँगलियाँ फेरीं। कुछ कुरकुरी सी महसूस हुई। एक हल्की मुस्कान मोटी-काली मूँछों के आरपार नाच गयी। उसी नपे-तुले अंदाज़ से तीखे बड़्याठ को पीठ पीछे छिपाते हुए बीर सिंह ने एक नज़र चारों तरफ़ डाली। लोग आपस में खुसुर-फुसुर कर रहे थे। धोती के लंबे छोरों को उसने दोनों हाथों से कमर में खोंस लिया, हाथों की दृढ़, शिला-मूर्तियों के सख्त उभारों जैसी, पेशियों पर उँगलियाँ फेरीं और उसकी डरावनी गिरगिट जैसी आँखों में खून उतरने लगा। अचानक लपक कर उसने बड़्याठ हाथों में मज़बूती से पकड़ लिया। आँगन में बिछे पटाल जैसा पक्का चौड़ा सीना ऊपर-नीचे होने लगा। मूँछें फड़कने लगीं। क्रूर दृष्टि से उसने सामने देखा। पुजारी जीत सिंह बकरियों के कानों में हाथ से पानी डालता जा रहा था—छपाक्!! नदी-रौखड़ के सफ़ेद शिलाखंडों-सी पचासों बकरियाँ थल में खड़ी थीं। पिठी-अक्षत लगी बकरियाँ कान फटफटा चुकीं, अंग-अंग झटक चुकीं, तभी—

बोल चितई के गोल्ल देवता की....
जैऽऽऽऽ...
बोल हरु सैम की...
जैऽऽऽऽ...

और जै की इस कर्णभेदी आवाज़ ने नैनू गोधनी के ढोल-नगाड़ों को भी मात दे दी। सारी बकरियाँ बिलबिला उठीं। प्रधान बीर सिंह उनके बीच में कूद पड़ा—ख्याच्च...—फ्याच्च...—म्याँऽऽऽऽ...शिबौ...शिब...—चुप !

महायुद्ध ! काश दूसरे महायुद्ध में यही बड्याठ बीर सिंह के हाथों में जर्मनी की भूमि पर

होता! 'रॉयल-गढ़वाल-राइफ़िल्स' के सिपाहियों में सबसे जोशीला जवान अफसरों की दृष्टि में वही तो था। —जैऽऽऽऽऽ. . .ध्यान कुटि कुटि. . .

ख्याच्च. . . .

चा. . .आ. . .आ. . .र्ज. . .

खच्च. . .

कटी हुई बकरियाँ ज़मीन पर पछाड़ खा रही थीं और बची हुई भय से थरथरा रही थीं। बीर सिंह को लगा जैसे खाई से निकल कर एक बार फिर उसने संगीन से उस जर्मन सिपाही पर धावा बोल दिया है—चा. . .आ. . .आ. . .र्ज; उसके सामने युद्ध की वीभत्सता नाच गयी; सिपाही का ख़ून खौल उठा।

युद्ध समाप्त होने पर सिपाही बीर सिंह मातृभूमि लौट आया था लेकिन खौलता ख़ून ले कर गाँव के लोग तो उसका पक्का शरीर ही देख कर डर जाते थे, अतः मारपीट की कभी नौबत ही नहीं आती थी। अंत में बकरियाँ काट-काट कर ही शौर्य की, प्रतिशोध की प्यास बुझाने लगा। और इधर चितई के थल में पिछले कई सालों से केवल वही बकरे काटता आ रहा था। लेकिन आज बात कुछ दूसरी थी। पिछले छह-सात साल से घरवाली खाट पर पड़ी कराह रही थी। अकेला लड़का था, वह भी त्योरें साल 'कुमायूँ रेजिमेंट' में भर्ती हो गया था। बीर सिंह रोकता कैसे? उसी का तो ख़ून था। आज वही बेटे की रक्षा के लिए मुस्तैदी से सीमा पर डटा हुआ था। धीरे-धीरे अतीत पूरी तरह उसके सामने घूम गया। पर दूसरे ही क्षण एक दूसरा चित्र उसकी आँखों के सामने उभरने लगा—खाट पर कराहती घरवाली! आह, बेटा सीमा पर साँसें गिनती घरवाली खाट पर पड़ी हुई और स्वयं चितई के थल में बड़्याठ थामे हुए! . . . यह त्रिकोणीय किरमोड़े का शूल हृदय में चुभता रहा—भीतर तक! . . .अंत समय तिरिया का साथी पति ही तो होता है. . .इसीलिए वह यहाँ है, नहीं तो क्या पता आज वह भी बहादुर बेटे के बग़ल में सीमा पर. . .! इन्हीं सब दुविधाओं ने घेर रखा है बेचारे को। क्या करे, क्या न करे? बचना तो पता नहीं. . .अंत समय अपने ही हाथों अपने इष्ट देवता को आख़िरी पूजा-प्रसाद चढ़ावा दे, फिर परमेश्वर की इच्छा! घरवाली की याद आती है तो दिल कसराने लगता है, हाथों में बड़्याठ ढीला पड़ने लगता है। लेकिन कसराने से पूजा विफल हो गयी तो?

—बली बीर सिंह की. . .

'जैऽऽऽऽ' के उद्‌घोष के साथ ही बीर सिंह पराक्रमी पुरुष की भाँति इधर से उधर कूदने-फाँदने लग गया था। जोश की अधिकता के कारण उसने अपना बायाँ पाँव दायीं जाँघ पर चढ़ा लिया था और एक ही टाँग पर उछल-उछल कर बकरियों की मुँडियाँ गिराने लगा था। अंत में बच गया मगनुवाँ —डेढ़ सौ बकरियों की गोठ का सयाना मगनुवाँ, बीर सिंह का इष्ट देवता को दिया हुआ अपना ही चढ़ावा, घरवाली की आख़िरी इच्छा। पिठाँ, अक्षत से मगनुवाँ का सिर रँगा था। पिछले सात-आठ सालों से उसे पाल-पोस कर इतना बड़ा किया था, उसके साथ शुरू में कई महीने साथ-साथ बिछौने पर सोया था और उसकी मोहक नृत्य-मुद्राओं में उसने सजीले स्वप्न सँजोये थे। मगनुवाँ उससे पूछ रहा था—क्या यही पुरस्कार देने के लिए प्यार से पाल-पोस कर बड़ा किया था मालिक?

क्या मेरी मौत से तुम सचमुच मालकिन को जिला लोगे ? बीर सिंह देखता ही रह गया। मगनुवाँ उसकी टाँगों से सट कर खड़ा था; मानो प्राणरक्षक की छत्रछाया में। लेकिन उसे क्या पता था कि मालिक का वही रक्षक हाथ आज. . । बीर सिंह का मन हुआ कि वह अपने प्यारे मगनुवाँ को छाती से लगा ले और उसे बताये कि वह कितना बड़ा धोखा दे रहा था उसे। मगर पिठाँ-अक्षत लग चुका था। अंग ढीले कर अब मगनुवाँ गोल्ल का हो चुका था। और ऐसे दिल कसराने से क्या गोल्ल उसके वंश को मटियामेट नहीं कर देंगे, उसके मकान का खँडहर नहीं बना देंगे ? बड़्याठ को मज़बूती से पकड़ कर बीर सिंह आगे बढ़ आया। मन में उथल-पुथल मची हुई थी . . . मगनुवाँ तुझे मैंने लड़के की तरह पाला है रे ! . . .मेरा अपराध क्षमा कर देना। स्वर्ग से हरु सैम की गोठ की शोभा बढ़ाना अब . . . । मगनुवाँ भी जैसे उसका आशय समझ गया था। चुप-चाप सिर झुका लिया और आँखें मूँद कर जैसे कहने लगा...स्वामी, अगर ऐसे तुम अपनी घरवाली बचा सकते हो तो मारो बड़्याठ. . .मालकिन जी जायें. . .मेरा भी जनम सफल हो जायगा।

दिल को कठोर बना लिया पधान ने—

ध्यान कुटि, कुटि. . .

ध्याच्च. . .

च्चच्. . .जै इष्ट देवता !

मैदान साफ़ हो गया। धूल में लुढ़कती मगनुवाँ की सजीली आँखें बीर सिंह की आँखों में अब भी झाँक रहीं थीं। मृत शरीर तड़फा तक नहीं। इन्साफ़ तो हो चुका था। उसको लगा कहीं उसने गोली ग़लती से पाँच अंश के कोण पर अपने . . . ! उसके हाथ-पाँव ख़ून से लथ-पथ हो गये थे। ख़ून की पिचकारियों से बदन रँग गया था। तब जर्मनी में भी सूखी ज़मीन के ऊपर कितने जर्मनों के ख़ून से नहाया था बीर सिंह और यहाँ कितने वर्षों से चितई के थल में बकरियों के ख़ून से हाथ-पाँव रँगता चला आ रहा है। लेकिन उस ख़ून और इस ख़ून में तो धरती और आकाश का अंतर है ! आज वह इष्ट के थान (मंदिर) में है। घर में घरवाली बीमार है नहीं तो ऐसे निहत्थे ख़ून में थोड़े ही जवानी बर्बाद करता अपनी। मोर्चे पर . . .चा. . .आ. . .आ. . .जं. . .

. . .बट्. . .कट्. . .प्वाइंट. . .

बीर सिंह का दिल पत्थर हो गया था, न दुख, न दर्द। एक बार याद कर सभी कुछ बिसरा दिया उसने। हाथ-पाँव जवानी के शौर्य से फड़कने लगे। हरकू क़साई का बड़्याठ हाथों में पतेल सा हल्का हो उठा। उसे छोड़ने को दिल नहीं कर रहा था। वह सोचने लगा कि बकरियाँ ख़त्म क्यों हो गयी ? काश ! लोग बकरे ढकेलते जाते और वह काटता जाता. . . काटता जाता और काटते-काटते बेहोश हो कर वहीं गिर पड़ता . . . ।

उसने अपनी गर्दन चारों ओर घुमायी। बकरियों के निर्जीव शरीर और उनकी एकत्र मुंडियाँ ! प्रस्तर-मूर्ति पर पुजारी ख़ून का टीका लगा रहा था। उसे लगा, जैसे गोल्ल मंदिर का संपूर्ण, घंटियों से लदा हुआ, बाँज का वृक्ष हिल उठा है—टुन. . .टुन. . .टुन. . . । साँय-साँय कर हिमानी बयार डोल उठी। बीर सिंह का दिल कभी ऊँचे डानों (चोटियों) पर जा कर मोर्चे की ओर झाँकने लगता और कभी नीची घाटियों में ग़ोता खा कर घर के भीतर घरवाली की

खाट के पास बैठ जाता। उसका मन फिर-फिर डानों पर चढ़ रहा था कि काश कोई ख़ून का टीका लगा कर उसे भी दूर उत्तर की ओर बर्फ़ानी चोटियों पर उसके बेटे के साथ छोड़ आता। लेकिन फिर पछुवा का झोंका उसे नीचे ले आता—बीर सिंह जीवन का सहारा मत छोड़! आख़िरी सहारा बेचारी का तू ही तो है! इसी पशोपेश में डूबता-उतराता वह थल से बाहर की ओर चला आया।

शाबाश बीर सिंह! इस साल तो तुमने ग़ज़ब का जोश दिखाया!
बिरका, तुम तो जैसे फिर लड़ाई पर चले गये थे!
पधान, मगनुवाँ हो . . .।

वह तेज़ी से निकल आया लोगों के बीच से। मन हुआ, कानों में उँगलियाँ डाल ले। न जाने उस समय बीर सिंह क्या-क्या सोच रहा था; न जाने क्या-क्या संकल्प कर रहा था।

अचानक उसे झटका सा लगा कि वह बेकार ही दिल कमज़ोर कर रहा है। बदन से चिपका ख़ून वह क्यों पोंछ रहा है? इतनी दृढ़ता और वीरता के बाद भी वह दिल कमज़ोर क्यों करे? विजयी राजा की तरह उसने बकरियों की एकत्र मुंडियों की ओर देखा और बिना बदन से ख़ून पोंछे ही गणेश का के हाथ से हुक़्क़ा ले कर एक ओर बैठ गया। एक ज़ोर का कश खींच कर उसने फूंक निकाली। हुक़्क़े का पानी गुड़गुड़ा उठा और धुएँ के बीच पधान बीर सिंह अपने अतीत को टटोलने लगा। परंतु जिस धुएँ के भीतर वह सदा से ख़ून का छितराना देखता चला आ रहा था, डरावनी भयानक—चार्ज. . .धायँ. . .धायँ. . .धायँ. . .की आवाज़ें सुनता आ रहा था, उसी में आज उसे एक ककड़ी के चीरे-सी सूखी, झुरी हुई स्त्री की सूरत दिखायी दी। कराहने की क्षीण आवाज़ कानों में आती गयी। रामबाँस के लंबे-तीखे काँटे जैसे उसके सीने में चुभने लगे। दुखी फ़ाख़्ते जैसा उसका दिल उसका ऊँचे डानों से कहीं पार हरी-गहरी तलहटियों में उड़ने लगा. . .फुर्र. . .र्र. . .र्र,. . .फु. . .र्र. . .र्र। गीली, दयनीय आँखों से उसने गोल्ल मंदिर की ओर देखा और उसे लगा जैसे सैकड़ों घंटियाँ उसकी आर्त पुकार सुन कर धीरे-धीरे हिल-हिल पड़ती हैं—चुन. . .चुन. . ., टुन. . .टुन. . .! उसने सोचा, कौन सी बयार से हिली हैं ये? कौन जाने सुदूर से हिमानी हवाएँ उसके बेटे की पुकार ला कर इन्हें झुला गयी हों। और यह भी हो सकता है कि घर की टूटी चारपाई की चरमराहट ही यहाँ तक पहुँच गयी हो! उसका मन प्रार्थना की गहराइयों में डूबता गया—दाहिने हो जाना परमेश्वर! उस दुखिया माँ को बचा देना, स्वामी! दसों उँगलियाँ मिला कर श्रद्धा से माथे से लगा लीं उसने—यह पूजा स्वीकार कर लेना! अपने दास की आख़िरी पुकार सुन लेना परमेश्वर!

पिछले सात साल, गेहूँ माड़ने के खलिहान में घूमते बैलों की तरह, उसके सामने घूमने लगे। जुन्याली (पूर्णिमा) की रातें घिनौड़ी (गौरेया) जैसी फु. . .र्र. . .र्र. . .से उड़ कर उसकी स्मृति के आँगन में बैठ गयीं।—रे साहूकार जा! गुरु के बचन का पालन कर। चार दिन में घर के बाहर-भीतर चलने-फिरने लग जायगी। लेकिन कोई फ़र्क़ नहीं हुआ; बेचारी रोगिणी की रोगिणी ही रही। कितनी ही उजियारी रातों भर प्रताप-जगरिया का हुड़का दमकता रहा, घर की मनहूसियत और साँय-साँय करते सुनसान में—दुंग. . .दुंग. . .दुंग. . .,

लेकिन परेशानियों में ही खून निथरता रहा बेचारी का। देवताओं का वश नहीं चला तो अँधियारी अमावस की रातों भर मशाण-चुड़ैलों की मनौती हुई। गोल्ल मंदिर के बायीं ओर के घिंघारु के पौधे में बँधी असंख्य काले कपड़ों की कतरनों के बीच वेचारा बीर सिंह भी काले कपड़े का एक टुकड़ा बाँध आया। दास को कुछ खिचड़ी और मांस भी बख्शीश के रूप में दे आया। लेकिन न जाने ईश्वर क्या चाहता था? डॉक्टर से भी तो कुछ करते नहीं बना!

उसने चिलम गणेश का के हाथ में थमा दी। किसी बहाने मंदिर के पीछे चला आया और एक लकड़ी का टुकड़ा उठा कर ज़मीन कुरेद-कुरेद कर विस्मृति की गहरी जड़ें उखाड़ने लगा। अतीत...शौर्य और उलझनों से भरा हुआ अतीत! बहादुर के बाद एक लड़की पैदा हुई थी—देवा। बेचारी रात-दिन भूमिया के मंदिर की ओर हाथ जोड़-जोड़ कर ढलती साँझ के समय अपनी माँ के रोग-मुक्ति हेतु अपने मूक वंदन में न जाने क्या-क्या कहती रहती थी। झगुली के फटे फेट में ताँबे का बड़ा सा पैसा छिपा कर ठीक भगवान की पाषाण मूर्ति के ऊपर चढ़ाती थी कि हे इष्ट देवता, मेरी ईजा (माँ) को बचा दो! पाँच-छह साल आँगन में घिनौड़ी जैसी चीं-चीं चिचियाती रही और फिर फुर्र...र्र...र्र...से उड़ गयी कहीं सुदूर अनंत की ओर। क्या पता, वही घिनौड़ी बन कर रोज़ आँगन में दाना चुगने के बहाने आती हो!

बीर सिंह उठ कर मंदिर के सामने चला आया और नतमस्तक हो आखिरी याचना की—ले परमेश्वर! तेरी भी आखिरी परीक्षा है और मेरी भी आखिरी भेंट! तू ही उचित विचार करना अब। सब-कुछ तुझ पर छोड़ चुका हूँ। अब बना या बिगाड़; तेरी मर्ज़ी। इसके बाद भी अगर उसे कुछ हो गया तो...।

न जाने क्या करेगा पधान बीर सिंह फिर? आह, ऐसा दुख न देखना पड़े किसी को। कौन जाने क्या हो गया घरवाली को? क्या पता किसी ने घात ही डाल दी हो? एक बड़े से लोटे में पानी लिया बीर सिंह ने और खून को रगड़-रगड़ कर शरीर से छुड़ाने लगा। जवानी का सारा जोश उसे खून की धार के साथ बहता हुआ दिखायी दिया और उसे लगा, कहीं उसका अतीत भी इसी खून के साथ तो नहीं बह चला है! फिर पाठ पढ़ा कर और मंदिर का फूल-प्रसादादि ले कर बुझे दिल से उसने घरकी तरफ़ पाँव डाले। फूलोंकी मुरझायी पंखुड़ियाँ उसने बहादुरकी माँ के उलझे बालोंके भीतर डाल दीं और पाठ एवं बलिके बकरे मगनुवाँके बारे में चंद शब्द कहे।

उजियारी उदास भोर निकल रही थी। छत की मुँड़ेर पर दो कौवे काँव-काँव कर रहे थे। दूर गंगसा नदी के रौखड़ में गंग-लोढ़ों के बीच चिता के धुएँ की लकीर का एक चंदोक सा उठ रहा था। अंतिम सहारे के धुएँ से मिचमिचाती आँखों में भरे आँसू ले कर घुटा रुदन करते हुए पधान बीर सिंह आँगन से घर के भीतर की मनहूसियत की ओर बढ़ रहा था। दरवाज़े पर एक सूखा मरियल सा कुत्ता लेटा था, मगर आज उसे फटकार कर लाह नहीं जमायी। पुराना बंद गले का कोट फ़ौज की फटी सी कमीज के ऊपर पहना और फटे कीलदार बूटों के फीते बाँधे। आशा का कफुवा पंछी दूर पर उस धुएँ के चंदोक के पार उड़ा जा रहा था...बर्फ़ीली चोटियों की ओर...हिया हुलसा देने वाली हिमानी हवाओं के बीच बहादुर बेटे के साथ!

—१२, मानसिंह भवन, तल्लीताल, नैनीताल।

रामकुमार वर्मा

स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री के प्रति

पृथ्वी-पात्र रिक्त था
तुमने उसमें भर दी जीवन-धारा,
मधुर हँसी के बुद्बुद उभरे
पात्र भरा ऊपर तक सारा।

भरा भर गया पात्र और भी
उसमें जीवन-रस संचारा,
बिखरा चारों ओर छलक कर
उसे न कोई मिला किनारा।

पृथ्वी के इस जीवन-रस पर अधर स्वर्ग के भी ललचाये,
पीने को वे झुके और—तुम अपने से हो गये पराये॥



अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग ।

वीरेन्द्रकुमार जैन

अंतर-कक्ष की दो कविताएँ

शय्यालीन

उस तीसरे पहर,
गये थे हम कृष्णगिरि के विजन में
परम एकांत
मिलन-शय्या की खोज में।

पहले आया था पलाश-वन:
स्निग्ध पल्लवों की घनी भीतरिमा
हवा से काँप कर
खुली, विस्फारित हुई:
अब तक कुँवारी गहराइयाँ
उफन आयीं:
बींध कर उनके अथाह को
मैं रातुल फूल में फूट आया:
तोड़ कर वह फूल
तुमने अपनी चूड़ा में टाँक लिया...!

आगे था अमलतास-वन:
उसके पीले फूलों में जा छायी
तुम्हारी ओढ़नी:
एक विवसन तनिमा
काँपती खड़ी रह गयी
शाखांतरालों में....
मेरी देह शून्यायित हो
उसके आर-पार बह गयी...!

आगे थीं पथहीन
अनाम अरण्यानियाँ :
...वह तनिमा
उनके अंतहीन शाखा-जालों में व्यापती.
अनेक छाया-उजियालियों में
आँखमिचौनी खेलती
पकड़ाई से बाहर हो गयी...!
उसे पकड़ने को आकुल
मेरी विकल बाँहें फैल कर
पार की गिरिमाला बन गयीं :
...और मेरी शृंगिनी छाती पर
एक अनंतिनी नीलिमा
शय्यालीन हो रही...!

नील कमल

ओ मेरी नील कमल,
जन्मांतरों की कितनी रातों में
तुम्हारे अनगिन पाँखुरी-प्रदेशों में
अभिसरण किया है मैंने
अपने अंतिम निजत्व की खोज में;
तुम्हारी अगोचर नील रगों में हैं
जाने कितनी दुर्भेद्य गिरिमालाएँ :
उनमें विचित्र ममताली सुरभियों से अखिल
अगाध मार्दव की सर्प-गुंजलकी गुहाएँ :
उनके अगम्य अँधियारे छोरों में
रह-रह कर चमक जाती हैं
तरंगायित अग्निम मणियाँ :
मेरे व्याकुल संचरण से
वे मणियाँ कभी-कभी
इंद्रधनुषी झीलों में लहरा उठती हैं :

और एकाएक
उनकी निस्सीमगामी लहरों पर
एक श्वेताभ हंसिनी पंख पसारे

स्निग्ध निश्चल उड़ती दिखायी पड़ जाती है :
अनायास ही मेरा आपा
तट पर केंचुली-सा उतर जाता है :
और मैं उस हंसिनी के पंखों का संवाही
आकाश बन छा जाता हूँ—
निस्पंद, सुस्थिर, अनाहत प्रवाही . . . !



भारतीय विद्या भवन,
चौपाटी रोड, बंबई—७।

श्यामसुन्दर घोष

संशयविजड़ित लोगों का गीत

एक किरण बंदी है तम के व्यूह बीच हम देख रहे हैं।

एक किरण जो उदयाचल से चल कर इस धरती पर आयी,
बिना थके जो रही लाँघती ऊँचे पर्वत, गहरी खाई,
दरवाज़े पर आ कर जिसने फूल खिलाये, दीप जलाये,
जो कमरे के अंदर जा कर अंधकार से घिर घबरायी,
जो संघर्षों से न डरी है, जिसने लाख प्रहार सहे हैं।

हम सब संशय के हरकारे, असमंजस है धर्म हमारा।
लँगड़े-लूले सोच-विचारों से आपूरित जीवन सारा।
अपनी सीमाएँ खींची हैं हमने, खुद ही हैं अब बंदी।
रेत-ढेर में छिपा दिया है हमने चकमक तीक्ष्ण दुधारा।
बिना हिचक हमने संशय-कुंठा-जड़ता के गीत कहे हैं।

हम अपने रंग में रँग कर हैं देख रहे युग को, जीवन को।
कोस रहे जी भर के युग के युवा रक्त के स्वप्न सृजन को।
सब कुछ है विकलांग दीखता, हम अभिशप्त बने जीते हैं।
इतिहासों का सत्य मानते दुरभिसंधियों, प्रेत-कथन को।
रुद्ध प्रवाहों बीच सर्प बन रेंगे हैं, सौ बार बहे हैं।

एक किरण बंदी है तम के व्यूह बीच हम देख रहे हैं।



गोड्डा, संताल परगना (बिहार)

-- अजयकुमार

आग्रह

पीपल के पत्तों-सा खड़काओ
हरी घास-सा मुझे हिलाओ
ओ वर्षाभीगे तरल पवन-झकोरे,
अपरिचित बच्चे की मायूस निगाहों से हेर
मुझे मत ऐसे अनदेखा कर जाओ।
इस सुबह की बहुत सुनहरी सी धूप ने उगाया—
नन्हीं चिड़ियों की ट्वी-टू ने परदे उठा दिये
मौसम तुम्हें मेरे पास तक ले आया
थोड़ी सचमुच थोड़ी उमर है तुम्हारी
थोड़ी देर ही मैं यह बेतरतीब उगी घासें देखूंगा
तब तक मेरा यह कमरा अपना पड़ाव बनाओ।
मुझे मत अनदेखा कर जाओ।
कुछ और रुको ऐसे अच्छे मौसम
हवा अपनी, ठहरो कुछ देर और
दीवारों पर चढ़ते नागबेल-से सन्नाटे पर।
ड्योढ़ी के अभाव दरवाजे के चुप पर
छायी रहने दो कुछ देर और
अपने आशीषों की छाया
देखो, उल्लासों के शंख फूंकते हैं
कब के सूखे बंदनवार
द्वार-रखे कलशों में
काँप रही है जैसे पानी की धार
थोड़ा ठहरो और
यह सूनापन हो जाने दो कुछ नम।
इतने अच्छे मौसम, कुछ और रुको—



ब्रजेश 'चंचल'

ज़िंदगी

मूल्यों का चढ़ाव-उतार,
खिन्नता, प्रसन्नता।
मुलम्मेचढ़े भूषण-सा,
आज का समाज यह !

सबका सब झोल-झाल
नाटकीय वोल-चाल।
रिश्तों के पिंजरे में,
बेमन से चित्रित सी
रटी हुई जिंदगी !

मिठबोली, इतराती
बढ़बोली बतियाती
पिंजरे की मैना-सी
रटी, रची ज़िंदगी !

काग़ज़ के फूल-सी,
गंधहीन ! फिर भी तो
युग के गुलदस्ते में
सजी हुई जिंदगी !

●

कोटा (राजस्थान)।

पद्मधर त्रिपाठी

तीन आवाज़ें : एक प्रतिध्वनि

उस रात जाने क्यों मुझे नींद नहीं आ रही थी। लोग कहते हैं, कॉफ़ी नींद तोड़ती है। और मैंने उस शाम कॉफ़ी पी थी।...बनारस आने के बाद कॉफ़ी एक तरह से छूट चुकी है। कभी-कभार यूँ ही साथ होने पर ले लेता हूँ। इधर जल्दी सोना भी शुरू कर दिया है, मगर उस रात तो एक बजे तक 'नॉसिया' ही पढ़ता रहा था।...कॉफ़ी पी थी, मुझे नींद भी नहीं आयी, लेकिन फिर भी मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ जो कॉफ़ी को बदनाम करते रहते हैं। इसमें बेचारी कॉफ़ी का क्या दोष ! दोष तो आँखों का था जो 'नॉसिया' को बंद करने के बाद कमरे से बाहर भी कुछ—बहुत कुछ देखना चाह रही थीं।....और मैंने भरी सर्दी में अपनी चारपाई के पास वाली खिड़की खोल दी थी। सामने एक लंबी सपाट—भयानक क्षणों में जीती हुई गली थी।

अभी रात बीती थी। भरपूर अँधेरा चारों तरफ़ फैला हुआ था। मकान के आसपास का वातावरण जैसे किसी बहुत गाढ़ी स्याही में डूबा हुआ। एक डरावनी खामोशी इधर-उधर टहल रही थी। थोड़ी ही देर के लिए सही—पर लगता था जैसे सब कुछ एक बहुत बड़े जबड़े में समाया हुआ हो। खामोशी के टुकड़े खिड़की के रास्ते धीरे-धीरे आ-आ कर मेरे कमरे में भी भर रहे थे। चारों तरफ़ एक चिपचिपा स्पर्श लग रहा था। सारी खामोशी बीच-बीच में तभी टूटती, जब चोट-खाये 'मसीहाओं' जैसे गली के कुत्ते सहसा ही भूँक पड़ते। खामोशी तो टूटती, मगर पूरे वातावरण में भय और अधिक घुल जाता। लगता, जैसे किसी गहरे कुएँ में बहुत बड़ा पत्थर झम्म से फेंक दिया गया हो; कि उससे भी ज़्यादा किन्हीं खूँखार हाथों सारा सन्नाटा बेदर्दी से टुकड़े-टुकड़े कर के छितरा दिया गया हो !

हवा भी बर्छीली थी; दिसंबर की, तेज़ और ठंडी। उस रोज़ तेज़ हवा शाम से ही बह रही थी। जाड़े की पुरवा भी शायद अपने अस्तित्व को और अधिक गहराई से महसूस करती है। बहरहाल उसकी तेज़ी का एहसास शाम को उतना नहीं हुआ था, जितना आधी रात गये हो रहा था। लगता था—भारी और लंबे डग भरती हवा गली के सीने पर चढ़ कर चली जा रही है; दोनों तरफ़ के मकान काँपते हैं और एक झोंका बीतने के बाद दोबारा काँप कर राहत पा लेते हैं।...

नींद नहीं आ रही थी। सोचा, शायद खिड़की बंद करने पर ही नींद आये। न जाने कितने लोग हैं, जो खिड़कियाँ बंद रखते हैं, बल्कि रज़ाई से मुँह ढाँक कर सोते हैं। वे सोते हैं

या नहीं, या सोते हैं तो कैसी नींद ?—यह नहीं पता। मुमकिन है सोने की हज़ाररहा कोशिश करने के बावजूद अधनींदे ही रहते हों। मगर इतना तो है ही कि देखने पर वे सोते हुए ही लगते हैं।....

और तभी—खिड़की बंद करनी चाही कि हवा का एक तेज़ झोंका आया। उसकी तेज़ी देख मानना पड़ा कि यह है पहले से भी अधिक तीखा और कँपाने वाला। गली की उस पट्टी वाले ऊँचे मकान की सपाट दीवार पर लगे हुए कई-कई फटे और उखड़े हुए 'पोस्टर' काँप उठे। एक ज़ोर की फड़फड़ाहट हुई और देर तक होती रही। क्षण भर को लगा—उस पूरी दीवार के बल्कि समूचे मकान के अस्तित्व ने एक गहरे आघात का अनुभव किया है। वह हिल गया है। जाने क्यों वह अनुभूति मुझे अच्छी लगी।....

'पोस्टरों' की फड़फड़ाहट बराबर होती रही। वह पहले भी होती रही होगी, मगर मैं ध्यान न दे सका। बहरहाल, नहीं ध्यान गया तो भी कोई बड़ी बात नहीं।...फटे हुए 'पोस्टर' तो हवा के झोंकों में फड़फड़ायेंगे ही, कुछ ग़लत ढंग से चिपकाये गये 'पोस्टर' उखड़ भी सकते हैं। प्रायः उखड़ जाते हैं।...और खिड़की का एक पल्ला मैं बंद कर ही रहा था कि ज़ोर की एक आवाज़ कौंधी। उस आवाज़ ने अँधेरे में उड़ते सन्नाटे को चींथ-चींथ कर बिखेर दिया। उस आवाज़ में एक घबराहट थी। वह व्यस्त जैसी थी। वह उस अँधेरे के बाहर किसी और अँधेरे में जीने वाली आवाज़ लग रही थी। मैंने सिर उठा कर टोह ली तो लगा—आवाज़ उन फटेहाल 'पोस्टरों' में से कहीं से निकल रही है। मगर अपनी इस मूर्खता पर ख़ुद को हँसी भी आ गयी।

बचपन में दादी माँ ढेरों कहानियाँ सुनाया करती थीं। कभी-कभी भूतों और चुड़ैलों की कहानी भी वे कहतीं। एक बार खैरा पीपल वाली चुड़ैल की कहानी कहते समय उन्होंने उसकी आवाज़ की भी नक़ल की थी। मैं डर गया था। अजीब तरह की नक्की आवाज़ उन्होंने सुनायी थी। ...और 'पोस्टरों' में से आती वह आवाज़ भी नकिया-नकिया कर चिल्ला रही थी—हुँऽ हुँऽ हुँहूँऽऽ....। मगर मैं डरा नहीं। मुझे फिर अपनी नासमझी पर हँसी आयी और मैंने खिड़की का वह पल्ला पूरा बंद कर दिया। दूसरे पर हाथ पहुँचा ही था कि वह आवाज अपने नक्की सुर में चीखी... 'नहीं, बंद मत करो, मैं बात करना चाहता हूँ।' मुझे आश्चर्य हुआ कि यह आवाज किसी चुड़ैल की नहीं, भूत की है। मैंने निवेदन किया—'आप सतायी हुई पीड़ित आत्मा हैं, शांति पायें। मैं भला आपसे क्या बातें कर पाऊँगा!'

आवाज़ एक मिनट मौन रही, फिर बोली—'ठीक है, तुम मत बोलना, मैं ही कहता रहूँगा। अस्ल में मैं आदमी से बात करना चाहता हूँ। हाँ, यह जान लो कि मैं भूत नहीं हूँ। मैं पीड़ित हूँ।'

उसकी बातों पर मुझे विस्मय हुआ, मगर मैं मौन रहा। बस, हल्की हँसी आ गयी। मैंने यह भी तै कर लिया कि सुनता ही रहूँगा, बोलूँगा कुछ नहीं। आवाज़ फिर एकाएक कड़की.. 'तुम हँस रहे हो। ठीक है, हँस सकते हो। तुम लेखक हो; कवि हो। तुम फिर हँसोगे, जब यह सुनोगे कि मैं भी लेखक हूँ।...और सचमुच मुझे फिर हँसी आ गयी। मुझे हँसते देख

खी-खी कर के ज़नानी हँसी शायद वह भी हँस पड़ा था। तुरत सँभल कर बोला—'बंधु . . .'। उसके इस संबोधन पर मैं अचानक बोल पड़ा . . . 'क्षमा करें, कृपया इस प्रकार के संबोधन का प्रयोग मेरे साथ न करें।"

मैं बोल तो गया, पर अपनी सहसा की हुई भूल पर पछताया भी। तभी आवाज़ थोड़ी तेज हो गयी—'क्यों, यह संबोधन तुम्हें नहीं पसंद आया? तुम तो आधुनिक बनते हो न! तुम खाक आधुनिक हो। देखो, आधुनिक मैं हूँ। किसी के भी दुःख-दर्द में साझीदार बन सकता हूँ। . . . .' बात कहते-कहते शायद सफ़ाई देने की भी ज़रूरत उसे महसूस हुई—'मेरे हर शब्द को काफ़ी ध्यान से सुनना। सबके सब प्रतीक हैं। एक गहरा अर्थ और 'तटस्थ संवेदना' उनके पीछे है। . . . तो असल बात तुमसे जो कहनी है, वह यही कि मैं तुमसे ज़्यादा आधुनिक हूँ। तुम पूछ सकते हो—क्यों? तो बं . . . ., नहीं-नहीं, 'सॉरी', तो इसलिए कि मेरी आत्मा हिमालय की तराई में एक चीड़ वृक्ष की फुनगी पर लगे बया के घोंसले में बंद रखी हुई है। उसे मैं जान-बूझ कर अपने पास नहीं रखता। इसके अनेकों कारण हैं। सबसे बड़ा कारण तो यही है कि उसे मैं किसी से भी, किसी चीज़ से स्पर्श भी नहीं कराना चाहता। यहाँ तक कि धूप और हवा से भी नहीं। इस धूप को ही लो—मैं बरहमेस यह देखता रहा हूँ कि धूप का भी भरोसा नहीं। उसकी भी पावता पर मुझे संदेह है। वह सड़े हुए अंडे पर भी पड़ सकती है और 'सन बाथ' करती किसी खुली हुई योनि पर भी और . . . .'

वह आवाज़ आगे कुछ और बोलती कि मुझे बीच में ही फिर बोलना पड़ा—'क्षमा करें, आपकी इन बातों से मुझे उबकाई आने लगी है। मैं ज़रा मुँह साफ़ करूँगा।'

और कुछ कहूँ कि वह अपने पुराने अंदाज़ में कड़की—'तुम आधुनिक हो! छिः। इतनी सी बात पर तुम्हें उबकाई आने लगी? तुम आधुनिक नहीं हो सकते। तुमसे साहित्य का नुक़सान हो रहा है। बंद कर दो यह कविताई।' मन ही मन मैंने कहा—आप धन्य हैं। ठीक कहते हैं और उठ कर मुँह साफ़ करने आँगन में चला गया।

लौट कर आया तो देखा, आवाज़ चुप हो चुकी है। खिड़की से बाहर इधर-उधर भी झाँका कि मुमकिन है कहीं वह भी मुँह साफ़ कर रही हो! मगर वह जा चुकी थी। सामने दीवार के 'पोस्टर' उसी बेहूदा तरीक़े से फड़फड़ा रहे थे।

मैं जानता हूँ कि अपने ढंग से किसी के प्रति किसी तरह की राय बनाने का अधिकार किसी को भी है। और मैंने भी उस आवाज़ के बारे में अपनी राय बनानी चाही थी। एक क्षण के लिए मुझे लगा था—आवाज़ बेक़सूर है। वह उस 'स्पंज' की तरह है जो अपने भीतर पानी तब तक पचाना चाहता है, जब तक वह अपने को जल से पूरा हुआ न मान ले। वह एक निरर्थक उपसर्ग की तरह अकारथ टाँक दी गयी है। . . . वह आवाज़ अधूरी है। वह शांत होना चाहती है। वह ऐसी गहरी नींद में सोना चाहती है, जिससे कभी न उठ पाये। स्पष्ट कहें तो वह निष्प्राण होना चाहती है!—शायद हो चुकी है। उसका अस्तित्व एक घुमेरदार रास्ते में भटक रहा है। वह भयभीत है अपने से . . .

उस बीच यह भी ध्यान नहीं रहा कि उसके जाते ही मुझे खिड़की के पल्ले बंद कर देने

चाहिए थे। और अपनी इस भूल का एहसास तब हुआ, जब एकाएक फिर से हवा का एक तेज़ झोंका आया। दीवार के सारे के सारे 'पोस्टर' एक साथ फिर फड़फड़ा उठे। कोई एक उखड़ कर अपनी असमर्थता की कैफ़ियत देता अँधेरे में उड़ गया।...कि सहसा फिर एक आवाज़ आयी...'आप सोना चाहते हैं न?'

मैंने जान कर कोई उत्तर न दिया। मुझे यह समझने में भी कोई कठिनाई नहीं हुई कि यह आवाज़ पहली से भिन्न है और भूत नहीं है। मेरे न बोलने पर शायद उसे बुरा लगा। उसने तेज़ हो कर कहा, 'आप सो सकते हैं, मगर यह अशोभन है कि किसी के आने की बात जान कर भी इस प्रकार की उपेक्षा बरती जाय। मैं इसे अपना अपमान समझता हूँ।'

मैं फिर भी कुछ न बोला। उसे शायद मेरा रुख और अधिक अप्रीतिकर लगा। तभी बड़ी खीझ और झुंझलाहट में वह आवाज़ तेज हो गयी—

'मैं अभी आप लोगों की बातें सुन रहा था। आप उस कमीने से बोल रहे थे।...' मैं विस्मय में पड़ा कि अजीब है यह तमाशा। यह छिप कर सारी बातें सुन रहा था। फिर भी मैं कुछ न बोला। दूसरी आवाज़ प्रतीक्षा में थी कि मैं कुछ भी कहूँ। मगर मेरी बेरुखी को देख कर वही चीखी—

'आप सब लोग धोखा दे रहे हैं। आप में से एक भी ऐसा नहीं, जो ईमानदारी से सब कुछ कह सके। मुझे देखिए—अपना सब खो कर भी मैं ज़िंदा हूँ। जिस कमीने से अभी आप बातें कर रहे थे, उसने ही मुझे धोखा दिया है—वह बहनचो...'

अचानक मैं बोल पड़ा— 'अरे गाली मत बकिए।'

दूसरी आवाज़ दबी-दबी खिलखिला पड़ी। शायद मेरे बोलने से उसे प्रसन्नता हुई थी। इत्मीनान में होती जैसी बोली—'मैं बहुत दुखी हूँ और अपनी असमर्थताओं पर ही 'रिसर्च' कर रहा हूँ। संतोष केवल यही है कि मैं अति आधुनिक हूँ। मेरी अति आधुनिकता की वजह से ही वह कमीना आधुनिक बन गया है। यद्यपि मुझे वेदों से बड़ा लगाव है। ध्यान दीजिएगा—लगाव है, आस्था नहीं। मुझे वेदों की ऋचाएँ अच्छी लगती हैं। उसी 'रिद्म' पर मैंने कुछ लिखा भी है। पर इतना सब होने पर भी मुसीबत यही है कि मैं जीना नहीं चाहता। इस दुनिया में मुझे कुछ भी ऐसा नहीं दिखता, जिससे तनिक भी सुख और संतोष पा सकूँ। सबके बीच अपने-आपको बहुत हलका महसूस कर रहा हूँ। इसीलिए अब पीता हूँ और घर के पास ही बहते गंदे कोढ़ियल नाले के किनारे जब कभी जा कर बैठा रहता हूँ। लोग उसे कोढ़ियल नाला कहते हैं। वहाँ मुझे बहुत अच्छा लगता है। आपको इस बात पर आश्चर्य भी हो सकता है, मगर मुझे एक अजीब तरह की अनुभूति होती है वहाँ। हमेशा नाले के बहते हुए गंदे पानी की आवाज़ें सुनता हूँ और पानी में जब भी अपने चेहरे की परछाईं देखता हूँ, उस पर थूक देता हूँ।...

यह कहते-कहते उसका गला भारी हो आया था। मुझसे न रहा गया, तो बीच में ही टोक कर मैंने कहा—'यह आप क्या कह रहे हैं।' मुझे जाने क्यों उससे हमदर्दी सी हो गयी थी। और अधिक आधुनिक ढंग से कहें तो तरस आ गयी थी।

मेरी बात सुन कर वह मौन रहा। अचानक मेरी नाक में जली हुई तंबाकू की गंध भरने लगी। मैं समझ गया कि वह सिगरेट पी रहा है। शायद धुएँ की कड़वाहट को ही, जो उसकी साँस थी, थूकते हुए बोला—'माफ़ कीजिएगा मेरे सिगरेट पीने से आपको तकलीफ़ हुई, लगता है। ख़ैर छोड़िए इसे, मैं जो कहना चाहता था—बात अस्ल में यह है कि हमारा समाज देवत्व की ही प्रतिमूर्ति नहीं है। उसकी सद्भावनाएँ और सदिच्छाएँ ख़त्म हो चुकी हैं। उसमें है केवल छल और कपट। एक बड़ी बदबूदार विद्रूपता। समूचा समाज भय और अनास्था में जी रहा है। यही हमारी आधुनिकता है। यही हमारी सभ्यता है। और स्थिति यह है कि इसी परिवेश में जीने के लिए हम प्रतिश्रुत भी हैं।

'ईमानदारी से एक बात और—केवल आपसे—कहना चाहता हूँ–वैसे भी यह सब केवल आपसे मैं कह रहा हूँ, किसी और से मत कहिएगा—जो मैं कह रहा हूँ, सब अपने अनुभव से। मैंने देखा है और पाया है कि आज की सभ्यता, इसे आप चाहें तो आधुनिकता भी कह सकते हैं, केवल बड़ी सफ़ाई से अपराध करने का नाम है। हम ग़लत और बुरे से बुरा काम कर सकते हैं, करते ही हैं, उस पर बड़े अंदाज़ से परदा भी डाल सकते हैं। और तो और—अपने चेहरे का रंग भी बदल कर पूरे समाज के दर्द में साझीदार बन सकते हैं। उसे छलावे में रख सकते हैं। प्रत्यक्ष ही आज सापेक्ष्य भी यही है। आज का सारा तंत्र, लगता है गहरे अँधेरे के छलावर्त में फँस गया है।....'

और अचानक आवाज़ चुप गयी। मैं आँखें मूंद उसकी बातें सुन रहा था। मुझे लगा था कि बातें वह कुछ गंभीरता से कह रहा है। सहसा उसके रुक जाने से अधिक सतर्क भी हो जाना पड़ा। सोचा, शायद अपने से ही वह कुछ बोले। मगर तुरत अपने को ही एक अजूबे प्रसंग में उलझते हुए पाया।

'पोस्टरों' की फड़फड़ाहट तेज़ हुई। लगा उसमें छपे हुए चेहरों की जमी हुई साँसें गरम हो गयी हैं। किसी खूँख़ार अँधेरे में एक लक्ष्यहीन फड़फड़ाहट।....और फिर एक बड़ी गुरु-गंभीर आवाज़ सुनायी पड़ी। आवाज़ इतनी भारी थी कि कोई भी डर सकता था। मगर भारी आवाज़ों से अभ्यस्त होने के कारण मेरे साथ भय की कोई बात न थी। मेरे साथ एक दूसरी तरह की कठिनाई थी। तीसरी आवाज़ कुछ समझ में नहीं आ रही थी। अति 'अमूर्त' ढंग की थी वह! अमूर्त चित्रों को देख कर तो मनमाना अर्थ दे लेता हूँ। कुछ 'अमूर्त कविताएँ' भी पढ़ी हैं और किसी तरह उन्हें अपनी विशेष इड़ा शक्ति के ज़ोर से पचा भी लिया है। मगर यह तो अमूर्त आवाज़ थी। बड़ी कठिनाई की स्थिति बनी। आश्चर्य की बात एक यह भी थी कि तीसरी आवाज़ थोड़ी पहचानी सी लग रही थी। विवश हो तीसरी आवाज़ से मैंने अनुरोध के स्वर में कहा—'कृपया कुछ सफ़ाई से कहें, आपकी बातें समझ पाने में मैं असमर्थ हो रहा हूँ।'

तब तक मैंने मन में यह निश्चय कर लिया था कि दूसरी आवाज़ दुबक कर भाग गयी है। और तीसरी आवाज़ को सुन कर यह भी लग गया था कि पहली दोनों आवाज़ों की अपेक्षा यह बुज़ुर्ग है।

तीसरी आवाज़ पर मेरे अनुरोध का शायद अतिरिक्त असर हुआ। उसने दोबारा जब कहना शुरू किया तो बातें कुछ-कुछ समझ में आ रही थीं। बात की शुरुआत ही उसने की—'स्साला भाग गया। लड़का है अभी. . .ठीक हो जायगा। अजीब तमाशा है साहब, इन दोनों नमकहरामों के ही पीछे मैंने अपना सब बर्बाद कर दिया। इसके लिए मैंने क्या-क्या नहीं किया, क्या-क्या नहीं सहा ! मगर ये हैं कि कहीं मेरा नाम लेने की बात तो दूर, गाली भी बेढंगी देते हैं। इन्हीं लोगों के चलते मुझे अपने ऊपर, अपनी कला के महत्व और उसकी महत्ता पर स्वयं ही कई बार लेख लिख कर छपवाने पड़े। . . .'

इतनी बातों से तो मैं यह समझ गया था कि तीसरी आवाज़ कलाकार है। शायद चित्रकार ! मैंने विनीत भाव से पूछा—"क्या आप आधुनिक चित्रकार हैं ? मुमकिन है, आपके बनाये चित्र मैंने कहीं देखे हों ?'

अपने प्रति इस प्रकार की तटस्थता बरती जाने पर तीसरी आवाज़ चिढ़ सी गयी : 'आपको मैं भला आदमी समझता था। आपने यह सवाल पूछ कर मेरा अपमान किया है। काश ! मेरे दोनों गण इस समय होते, —आपको मेरा और मेरी कला का इतिहास जानते देर न लगती।' तीसरी आवाज़ के इस कथन पर मुझे विस्मय हुआ। तत्काल मुझे ध्यान आ गया कि योग्यता और कर्तव्य-बुद्धि की उपेक्षा और तथाकथित अधिकार के लिए सतत संघर्ष—यह आज के युग की विशेषता है। और यह सब कुछ सहने-झेलने के बावजूद यह किंचित बुज़ुर्ग तीसरी आवाज़ आधुनिक जीवन को, ग़लत ढंग से जी रही है।

तीसरी आवाज़ आगे कहती जा रही थी—'बहरहाल, मैं यहाँ आया था उन्हीं दोनों की खोज में। अब जा रहा हूँ। लेकिन जाते-जाते आपको यह बता देना चाहता हूँ कि आधुनिकता का यह तक़ाज़ा है कि इस प्रकार के प्रश्न आप किसी से न करें। जनाब, मैं आधुनिक यानी निहायत आधुनिक अमूर्त चित्र बनाता हूँ। यही नहीं, मैं कविताएँ भी लिखता हूँ और वह भी अमूर्त ! . .' और जाते-जाते उसने यह भी कहा कि 'प्यारे, अब तो यही लगता है कि यह ज़िंदगी टूटने-जुड़ने की सीमा से बाहर बिलकुल निरपेक्ष हो चुकी है। कहीं कोई टकराव होता है, मगर नियति के अलगाव का एहसास होते ही वह भी खत्म हो जाता है।'

और तीसरी आवाज भी चली गयी। हवा का एक ज़ोर का झोंका फिर आया। मेरी आँख दीवार पर गयी तो सारे के सारे 'पोस्टर' एक साथ हिल रहे थे। और फिर 'पोस्टरों' की फड़फड़ाहट एकाएक काफ़ी तेज हुई और ग़लती हुई रात के अँधेरे में ठिठुर कर थम गयी।

मुझे इस तीसरी आवाज़ के आने पर कोफ़्त हुई थी। क्योंकि दूसरी आवाज़ थोड़ा ढंग से बातें कर रही थी। उसकी बातों से मुझे उसके प्रति दया आयी थी। वह सतायी हुई आवाज़ थी। वह कुंठित हो कर अपने ही एक दायरे में सिकुड़ गयी थी। वह भटक गयी थी अपने ही बनाये हुए रास्ते पर। अपनी थकन और टूटन को वह महसूस कर रही थी। एक सड़ी हुई ज़िदगी जीने वाली वह दूसरी आवाज़ भाग गयी छिप कर, मुझे यह अच्छा न लगा था।

तीसरी आवाज़ को सुनते ही जाने क्यों मुझे लगा था कि यह किसी बूढ़े दिल वाले बाज़ की चीख़ है, जिसका अर्थ, जिसकी संवेदना किसी की समझ में नहीं आ रही है। उसकी आँख केवल मुर्दों को देख रही है। तीसरी आवाज़ के पीछे अवश्य ही कोई घिनौनी सूरत होनी चाहिए, एक ऐसा आदमी होना चाहिए जो केवल अपनी अमूर्तता के लिए पूरी भीड़ को जी रहा है--पूरी भीड़ को मूर्ति बना कर उसके हाथ अपनी बेपनाह चोटों से तोड़ देना चाहता है।...

--भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड, वाराणसी।

अमृता भारती

अँधेरा कमरा : सूर्योदयी वातायन

मन, जो कभी किसी की बात मानता नहीं, मानता भी है, तो वही बातें जो उसे अच्छी लगती हैं—अपनी आदत के अनुसार एक दिन उदास हो गया। सूरज डूबने ही वाला था और चाँद के उगने की पूरी तैयारी हो चुकी थी। याद आया, आज पूनम है, पूरा चाँद निकलेगा, और मैं उसे बड़ी देर तक बाल्कनी की रेलिंग पर बैठ कर देखती रहूँगी। ...पर जाने कब सूरज डूब गया, कब चाँद ऊपर उठ आया, मैंने बत्ती नहीं जलायी; मैं उठी नहीं, मैंने दरवाज़ा नहीं खोला, सिर्फ़ खिड़की का पर्दा थोड़ा सा खिसका कर उसकी जालियों पर पीठ टिका देर तक बैठी रह गयी। . . .आज मन नाराज़ ही नहीं था, बहुत विषण्ण और क्लांत था। कोई भी बात अच्छी नहीं लग रही थी। हर शब्द, हर वाक्य और हर बात के आगे प्रश्नचिन्ह था। शब्द खो जाता था; बात खो जाती थी; वाक्य खो जाता था; रह जाता था मात्र वही प्रश्नचिन्ह, जो अक्सर उठ आया करता है। लेकिन शायद मैं ग़लत हूँ—यह अक्सर उठ आने वाला प्रश्नचिन्ह नहीं था, यह कभी-कभी बहुत उठ आने वाला प्रश्नचिन्ह था, जो जब उठता है तो सभी सत्य शिव, सुंदर वस्तुओं की इयत्ता पर पहरेदार बन कर खड़ा हो जाता है, सत्यता, शिवता और सुंदरता का विश्वास छीन लेता है, उनकी ज्योति पर काला परदा डाल देता है।

अपने इस विश्वास के अभाव में हम अति सामान्य हो जाते हैं। सोचते लगने हैं जब सत्य, शिव, सुंदर ही नहीं है, उनकी स्थिति संदेहास्पद है; प्रश्नग्रस्त है तब क्यों हम उनके बारे में सोचें? आखिर ये सत्य, शिव, सुंदर हैं क्या—मानसिक संस्कार और उसकी स्थितियाँ ही तो! हमारा आग्रह इन्हीं की तरफ़ क्यों हो? जो असत्य है, अशिव है, असुंदर है (वस्तुतः हम नहीं जानते सत्य, शिव सुंदर क्या है और असत्य, अशिव और असुंदर क्या है) वह तिरस्कार की वस्तु बन कर क्यों रहे। (यह उस विषादग्रस्त गड्ढे में पड़े मन का प्रश्न होता है, जो अपने अनजाने ही विपरीतगामी विचारधाराओं से सूत्र जोड़ते चलने में ही संतुष्ट होता है)।

तो उस शाम ऐसी ही थी मेरे मन की स्थिति, जब मैं जीवन का अंतिम भाग्य और लक्ष्य मृत्यु को ही मान बैठी थी; और तब केवल यही लग रहा था, यदि मृत्यु ही आनी है तो वह देर से क्यों आये? क्यों हम संघर्ष करते हुए उसकी प्रतीक्षा करें? वह क्यों न अभी इसी क्षण हमारे जीवन का फ़ैसला कर दे?

मन धीरे-धीरे डूबता चला गया था और उस घोर अवसाद में रुलाई भी इतनी घुट चुकी थी कि उसका बाहर आना संभव नहीं रह गया था। जिन प्रश्नचिन्हों ने मुझे भूत-प्रेतों के कारवाँ की तरह घेर लिया था, अब वे भी नहीं रह गये थे; सिर्फ़ रात थी—कालरात्रि; और मुझ किसी ने कुएँ के अंतिम तल में बंद कर दिया था। डूबती चेतना में एक चाह कहीं अधजली या अधबुझी सी शेष थी कि इस समय मेरे होश में आने का एक ही उपाय है: कोई मेरे बदन पर पानी के छींटे डाल दे।...और उसे संयोग कहो या चमत्कार, हवा के झोंकों के साथ बरसात की तेज़ फुहारों ने खिड़की पर टिकी मेरी पीठ को समूचा भिगो दिया।. . .अभी और . . .अभी और. . .मैं चाहती रही, और वर्षा मुझे भिगोती रही। मेरे बाल भीग चुके थे, और कंधों को भिगोती फुहारें अंदर बिस्तर तक पहुँच रही थीं।.....मैंने होश पा लिया था।

मौत का परदा हट गया था, अवसाद की स्थिति गुज़र चुकी थी और शाश्वत आनंद से मेरा तन-मन भीग रहा था।. . .

यह पहले दिन शाम की घटना है; अगले दिन सुबह जब मेरे हाथ में वीरेंद्रकुमार जैन का घोषणा-पत्र—**हम सनातन सूर्योदयी नूतन कविता की घोषणा करते हैं** आया तो मैंने उसे यही सोच कर रख दिया कि शाम को पढ़ूँगी। यों उत्सुकता बहुत थी पर कुछ काम थे जो मुझे दिन में ही समाप्त करने थे, सो मैंने निश्चित होना ही ठीक समझा। दुपहर पीछे मुझे फिर लगा कि गत शाम की वही स्थिति मुझे दुबारा ग्रस्त करने जा रही है। मैंने अपने को कई बार झटका दे कर उबार लेना चाहा, पर प्रश्नचिन्ह का प्रवेश हो गया था और धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती जा रही थी। मुझे यह भय खाये जा रहा था कि अभी फिर शाम होगी, और मुझे उसी डूबन और अवसाद का सामना करना पड़ेगा। और सचमुच ही मैं उस नकारात्मक स्थिति में गहरे और गहरे उतरती चली गयी—कि तभी मुझे घोषणा-पत्र की उस पुस्तिका की याद आयी।. . . सूरज डूबने में एक घंटा शेष था, मैंने अँधेरा होने से पहले ही बत्ती जला ली; खिड़की, दरवाज़े खोल दिये और मैं पढ़ने लगी। अपनी उस निराश स्थिति में—सूरज डूबने की उस वेला में मुझे 'सनातन' और 'सूर्योदयी' शब्द बहुत अपरिचित और अग्राह्य से लगे—लेकिन शब्द अपनी जगह पर थे और बड़े-बड़े अक्षरों में थे और लेखक की ओर से वे उतनी ही ताक़त से आये थे जितनी शक्ति से क्षितिज के पार से सूरज या चाँद को आसमान में फेंका जाता है।

मैंने चारों तरफ़ से अपने मन को समेट कर उसे उस 'घोषणा-पत्र' में केंद्रित करना चाहा, पर वह मुझे बहुत आसान न लगा। उस पत्र का पहला वाक्य ही **आज समूची विश्व-मानवता एक दुर्निवार महामृत्यु के द्वार पर खड़ी है** मुझे अटका गया। प्रश्न पर प्रश्नचिन्ह लगा कर बात उठी, मृत्यु तो दुर्निवार है ही, उसे रोका कैसे जा सकता है, और वह तो हमारा अंतिम भाग्य है, फिर उससे परहेज़ भी क्यों हो?....लेकिन गुज़री हुई कल शाम की वे फुहारें, उसके बाद का वह अनंत आनंद, चेतना का वह पवित्र स्पर्श, वह सब क्या था? या तो मृत्यु सत्य है या यह आनंद सत्य है, क्योंकि दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते? यदि दोनों ही सत्य हैं तो एक कालगत सत्य है और एक अनंतकालीन सत्य है। प्रश्न इतना ही उठना चाहिए कि हमें कालगत सत्य स्वीकार करना है (जो वस्तुतः सत्याभास है; सत्य नहीं) या अनंतकालीन सत्य?

इस प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं देना है क्योंकि प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है। मुझे सिर्फ़ अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण करना है कि यह जो अटकन और भटकन है, यह जो अंधकार और पीड़ा है, यह क्यों है? यह जो निरर्थकता और अकेलेपन का एहसास है, क्यों है? प्रश्न 'क्यों' तक ही नहीं रुकता! इसकी व्याप्ति एक मेरे मन में ही नहीं, समूचे जीवन-जगत में ही दिखायी देती है। जीवन, जो अन्य हर वस्तु की कसौटी है, चाहे वह कला हो, साहित्य हो, रंग-रूप-आकार हो या अन्य कुछ भी हो, आज इतना खोखला और बेमाने क्यों हो गया है? आज के मनुष्य के पास किस वस्तु का अभाव है? विज्ञान हमारी हर चाह का उत्तर है—हमारी पृथ्वी पर आज वह सब कुछ है, जिसकी कभी हमने कल्पना की होगी। तब हमने क्या खो दिया जो हमारे पास था?—यह 'क्यों' पानी में तेल की बूँद-सा बहुत दूर तक फैल जाता है।—मैं पढ़ती हूँ।

आज जगत के चिंतन-दर्शन, सर्जन और साहित्य के सारे ही क्षेत्रों में यह जो पराजय, आत्म-दैन्य, आत्मघृणा, आत्मभीति, कुंठा, एकाकीपन, निराशा, विषाद, लक्ष्यहीनता, जगत और जीवन की निरर्थकता, मानव की सीमितता और लघु मानव की उद्घोषणा की पुंसत्वहीन आर्त वाणी सुनायी पड़ रही है, वह मनुष्य के ईश्वर-द्रोही क्षुद्र अहंकार की चरम ट्रैजेडी है।

मेरी विषादग्रस्त मनःस्थिति को एक झटका लगता है। क्या मैंने सचमुच अपने जाने या अनजाने ईश्वर-द्रोह का अपराध किया है? लेकिन ईश्वर है क्या? भगवती-शक्ति है क्या? क्या यह वही सत्ता है जिसके बारे में सुना बहुत है, लेकिन देखा नहीं?....मुझे फ़ौरन ही प्रतीति हो जाती है कि मेरा मन कहीं अन्यत्र भाग रहा है—वह 'सनातन' को 'पुरातन' कह कर उससे भाग जाना चाहता है, और जो पल-अनुपल द्रष्टव्य है, उसे अनदेखा कर रहा है। आखिर मैं पराजित क्यों हूँ? आखिर मैं अकेली क्यों हूँ, यह आत्म-दैन्य और यह आत्म-भय क्यों है मुझमें? पर यह हर पल क्यों नहीं है, क्यों यह कुछ देर के लिए ही मुझे ग्रस्त करता है? यदि मैं अपनी इस कुछ देर की नकारात्मक स्थिति को ही सत्य मान स्वीकार करना चाहती हूँ तो फिर मुझे क्यों अच्छा लगता है, एक बढ़िया 'ट्रे' में सजी बढ़िया 'फ़्लेवर' की चाय पीना। क्यों मुझे विशेष रुचिकर है स्टील के चमचमाते बर्तनों में कई तरह का खाना? क्यों किन्हीं कमतर पात्रों में मामूली खाना मुझे भाता नहीं? नगर के सबसे बढ़िया हाउस में 'पिक्चर' देखना मुझे क्यों पसंद है? क्यों मुझे विशेष खींचता है वह मकान, जिसके आकाशी बरामदे हों और समुद्री खिड़कियाँ और यदि इन सबको भोग कर मुझे सुख मिलता है तो क्या केवल इसलिए कि मैं मर जाऊँगी? क्यों इन सबको भोगते समय यह ध्यान नहीं रहता कि मृत्यु ही एकमात्र सत्य है और वह मेरे दायें-बायें कहीं भी खड़ी है? इन सबको भोग कर इन्हें मिथ्या कहने का मुझे क्या अधिकार है?

मैं अनायास अपनी आत्म-दैन्य की स्थिति से ऊपर उठ जाती हूँ और उन पर दया कर बैठती हूँ, जो इस आत्मदैन्य, पराजय और एकाकीपन में, 'कुछ देर के लिए' नहीं, हर पल जीते हैं और उनके लिए कोई ऐसी वर्षा की फुहार नहीं आती, जो उन्हें उनकी इस अंधकारमयी स्थिति से मुक्त कर दे। मुझे उन अनेक बौद्धिक मित्रों का खयाल आता है जो दिन में कई बार नक़ाब बदलते हैं, कितने ही रंगों की नक़ली हँसी पहनते हैं, लेकिन जिनका असली चेहरा या जिनका

असली रंग रात के किसी अँधेरे पहर में ही देखा जा सकता है। लेकिन मैं रात के अंधकार को अपवित्र क्यों करूँ, वह आखिर है क्या? सूर्य या प्रकाश का अभाव नहीं, बल्कि उसका थोड़ी देर के लिए स्थानांतर। मुझे उनका ख़्याल भी आता है, जो चौबीसो घंटे इस नक़ाब का बोझ ढोते हैं, यहाँ तक कि नींद भी वे इसी चेहरे से लेते हैं और स्वप्न भी इसी चेहरे की आँखों देखते हैं।

उनकी इस दीन स्थिति का राज़ क्या है? क्या यही नहीं कि उन्होंने **पतन, पराजय, विफलता, कुंठा, सीमितता, एकाकीपन, आत्म-भीति, लघु-मानवत्व, बिछोह, यातना, रोग, बुढ़ापा, मौत** को अपनी अंतिम सीमा अथवा अंतिम भाग्य मान लिया है; कि उन्होंने असत्य को स्वीकार कर लिया है! कि उन्होंने **स्थितिगत अस्थायी अवस्थाओं के संमुख** अपने घुटने टेक दिये हैं और इन पर **अपनी अंतिम हार का हस्ताक्षर** कर दिया है?

मैं सोचती हूँ, वे जो इतने नक़ली और लक्ष्यहीन हो उठे हैं, इसका कारण किसी ऐसी असलियत और किसी ऐसे लक्ष्य से विच्छिन्न हो जाना है, जिससे जुड़ कर वे अपनी वस्तु-स्थिति में लौट सकते हैं। वह असलियत या वह 'सत्य' क्या है?

निखिल चराचर सृष्टि के भीतर एक ऐसी जीवंत, प्रज्ञापूर्ण और अखंड महासत्ता विद्यमान है, जो जीव और वस्तु मात्र को अविच्छिन्न एकता में बाँधे हुए है। प्राणी-प्राणी के बीच, मानव-मानव के बीच और सचेतन प्राणि-जगत तथा अचेतन जड़-जगत के बीच, जो एक आकर्षण-सम्मोहन और प्रेम की शक्ति सतत क्रियाशील है, वह सर्व के भीतर विद्यमान उसी 'एक' की अखंड सत्ता की साक्षी देती है।...निखिल विश्व की इसी समष्टिगत एक और अखंड महासत्ता को आप वैज्ञानिक दृष्टि से अविच्छिन्न 'कास्मिक एनर्जी'...कह सकते हैं।

मुझे 'कॉस्मिक एनर्जी' शब्द बहुत सुंदर और आधुनिक लगता है। असल में हज़ारों बरस हो गये 'भगवान' और 'भगवती' शब्दों का प्रयोग करते हुए। इनकी ध्वनि बहुत पुरातन हो गयी है और यदि अब वह उतनी प्रिय नहीं लगती, तो कहीं मेरा अत्यधिक आधुनिक होना ही आड़े आता है। मुझे 'वैश्विक शक्ति' से भी आपत्ति हो सकती है, लेकिन 'कॉस्मिक एनर्जी' से नहीं; इसलिए मेरे नये मन के निकट 'कॉस्मिक एनर्जी' शब्द ही ग्रहणीय है। यह बात अलग है कि पानी, अग्नि, सूरज या चाँद अपने इन पुरातन नामों के साथ भी नित नवीन हैं।

तो मैं कह रही थी कि प्राण-प्राण के बीच के इस सूत्र से विच्छिन्न हो कर हम अपने केंद्र से बिछुड़ जाते हैं। मुझे उन व्यक्तियों का ख़याल आता है जो अपनी वैयक्तिकता रख कर चलना चाहते हैं, व्यक्तित्वमत्ता नहीं; क्योंकि उनमें व्यक्ति प्रधान हो गया है; व्यक्तित्व नहीं। व्यक्तित्व कभी परंपरा और भावी से विच्छिन्न नहीं होता, वह इन दोनों के बीच की कड़ी होता है जिसमें पूर्व का संस्कार और भावी के दर्शन का सामंजस्य होता है। लेकिन व्यक्ति, वह भी आज का व्यक्ति जो रेगिस्तान में खड़े किसी ठूँठ की तरह इतना अकेला और सबसे अलग ही रहना चाहता है कि उस रेगिस्तान से भी अपना संबंध नहीं जोड़ना चाहता, जिसमें वह खड़ा है, तो उसकी क्या इयत्ता है? मूल रूप से तो वह उस रेगिस्तान से भी जुड़ा है, लेकिन उसकी स्थिति ऐसी है कि वह उस पृथ्वी को भी इन्कार कर देना चाहता है, जहाँ उसकी जड़ें पड़ी हैं और उस

आकाश से भी पलायन कर जाना चाहता है, जहाँ उसकी शाखाएँ फैली हैं या जिसके भीतर वह अस्तित्व धारण किये हुए है और जिसके बिना उसे अपने को 'मैं' कहने तक का अधिकार नहीं है।

शाम बीते एक घंटा हो गया है और मुझे महसूस हो रहा है कि मैं कहीं रुक गयी हूँ; स्थिर हो गयी हूँ और यह स्थिरता अच्छी है, कम से कम मुझे सोचने तो देगी, मैं यह तो समझ सकूँगी कि वे कौन सी गाँठें थीं जिन्होंने मेरी शिराओं में बहते हुए रक्त-प्रवाह से ही मुझे तोड़ दिया? क्या यह मेरा **अहं-स्वार्थ-ग्रस्त अति वैयक्तिक रूप** था या मेरे प्रेम की असफलता थी? प्रेम कर के अपरिचय को मैंने जाना है, प्रेम कर के न प्रेम करने के सत्य को मैंने पहचाना है। इसका कारण? कारण था सत्य का अभाव, मैं की सर्वोपरिता। मेरी **चेतना जड़त्व के एक सत्ताहीन शून्य में, अपने ही 'मैं' के बंद अँधियारे नरक में अनाथ हो कर घुटने** को अकेली छूट गयी थी। तब मैं इस नरक को ही अपने **अस्तित्व की अंतिम बेबसी, पराजय और सीमा मान कर प्रेम को झूठ, धोखा और आत्म-वंचना** मान बैठी थी। वस्तुतः प्रेम दो हृदय अथवा आत्माओं के बीच की संपूर्ण संवादी स्थिति है। मैंने **अति वैयक्तिक** हो कर इस संवादिता को भंग करना चाहा, उसे भंग तो न कर सकी, लेकिन उसे अपनी तरफ़ से समेट कर उससे अलग 'कुछ और' की तलाश में लग गयी।

आज के व्यक्ति में, खास तौर से बौद्धिक व्यक्ति में जो आज यह हर पल 'कुछ और' की खोज चल रही है, वह उसे स्थिर नहीं रहने देती। वह इस 'कुछ और' का अर्थ नहीं समझता है, समझता है तो सिर्फ़ इतना ही कि उसे किसी भी भूमि में अपनी जड़ें नहीं डालनी हैं, क्योंकि तब वह रुक जायगा, किसी एक भूमि का हो जायगा। यह रुकना उसे मौत लगता है। वह इसे स्थिति नहीं, गतिहीनता मानता है। पृथ्वी अपनी धुरी पर घूम रही है, यह उसके निकट पृथ्वी की मौत है, क्योंकि वह किसी धुरी पर टिकी है। मैं भी उसकी तरह इस स्थिति को रुकना माने लेती हूँ और सोचती हूँ, वृक्ष की तरह किसी पृथ्वी से जुड़े रहने से तो बेहतर है एक तिनका बन जाऊँ, ताकि आँधी भी आये तो उड़ने का तो स्वाद मिले; आकाश की ऊँचाई तो देखने को मिले।

लेकिन यह गतिमत्ता भी कैसी है, जिसमें गति का रस ही चला जाता है। जिसमें केवल ऐसा निष्प्राण, निर्जीव बहाव रहता है, ऐसी मृत और शव सरीखी उड़ान रहती है कि बहाव या उड़ान का भान ही नहीं रहता। यह आतमदान, समर्पण या विगलन की स्थिति नहीं; यह तो वह स्थिति है, जिसमें कुछ देर के लिए 'क्लोरोफ़ॉर्म' सुँघा कर मनुष्य या जीव की चेतना को उससे बिछुड़ा दिया जाता है; और जब वह होश में आता है तो उसे मिलती है पीड़ा, अंगभंग, घाव या मौत।

'कुछ और' की तलाश में भटकती स्वार्थग्रस्त वैयक्किता इसे कहती है: 'मुझे रुकना नहीं है, मतलब मुझे स्थिर नहीं होना है क्योंकि रुकना मौत है, रुक कर तो हम तालाब ही हो सकते हैं, नदी नहीं।' वे इतनी मामूली बात भी क्यों भूल जाते हैं कि नदी निर्मूल नहीं है अर्थात उसका स्रोत भी कहीं न कहीं है ही और वह निर्लक्ष्य भी नहीं है। तो जो भूत और भविष्य को जोड़ते हुए बहता है, आतमदान के लिए बहता है, वह पराजित, असफल या स्वार्थग्रस्त क्यों होगा?

लेकिन वे केवल बहना चाहते हैं, बहना ही उनका लक्ष्य है क्योंकि उन्हें 'कुछ और' की तलाश है। और यह 'कुछ और' उन्हें अपने से बेहद बाहर ले जाता है। यह विकास का सूचक 'कुछ और' नहीं, बल्कि भटकन और निर्लक्ष्यता की ओर ले जाने वाला 'कुछ और' है। यह अंतहीन तृष्णा की मृग-मरीचिका है। स्वार्थग्रस्त जड़ता से निष्पन्न दायित्वहीनता और पलायन है। व्यक्ति के बाद व्यक्ति, वस्तु के बाद वस्तु...और तब एक अंत—जहाँ कोई व्यक्ति नहीं; कोई वस्तु अपनी है।

मैंने भी अपने को आदि और अंतिम (फ़ाइनल) से तोड़ कर 'कुछ और' की तलाश की। क्योंकि मेरी मूलगत चेतना में कहीं वह अविच्छिन्नता बनी हुई थी, कहीं उस दारुणतम अंधकार की घड़ी में भी एक सूर्य-किरण मेरे साथ जुड़ी हुई थी इसलिए मैं जल्दी ही यह महसूस कर सकी कि इस उथले क़िस्म के 'कुछ और' की खोज में आदमी इतना चूक जाता है कि उसके पैरों के नीचे धरती नहीं रहती, बर्फ़ रहती है और मुट्ठियों में आकाश नहीं, केवल शून्य का तमसाकुल भय रहता है।

रात हो चुकी है, बाहर अँधेरा है, बत्ती बंद हो जाने पर भीतर भी अँधेरा हो जायगा; लेकिन मैं भयभीत नहीं हूँ; क्योंकि आज मेरा कमरा अंधा बंद कमरा नहीं है; मैंने वातायन खोल दिया है—मुझे मालूम है, कुछ ही घंटे की देर है जब सूर्योदय होगा—और मेरी चेतना इस सूर्योदयी वातायन की राह अनंत आकाशों के पार के अंनत क्षितिजों तक उड़ेगी।

—लवली हाउस,
सांताक्रूज (पूरब), बंबई—५५।

एम० ग़यासुद्दीन अन्सारी

राष्ट्रीय एकता के प्रबल समर्थक : 'मीर' साहब

बंबई-कलकत्ता रेलमार्ग पर स्थित भाटापारा एक छोटा सा स्टेशन है। ब्रिटिश शासन-काल में यहाँ दीवान बहादुर दाऊ कल्याण सिंह की ज़मींदारी थी। इसी ज़मींदारी के व्यवस्थापक की हैसियत से अमीर अली 'मीर' ने अपने जीवन का अंतिम समम व्यतीत किया था तथा १९ जनवरी १९३७ को दुर्घटनावश रेल से कट कर सदा के लिए अपने को इसी भूमि में सर्मपित कर दिया था।

मीर साहब का स्मरण आते ही स्मृति-पटल पर साँवले रंग, मध्यम क़द, घनी-लंबी दाढ़ी, शांत, गंभीर, सौम्य एवं तेजस्वी मुखमंडल वाले वृद्ध पुरुष का एक धूमिल सा चित्र उभरता है, जिनकी वाणी में मधुरता थी, व्यवहार में स्नेह था, विचारों में सादगी थी तथा मन में प्रत्येक छोटे-बड़े के लिए समान आदर-भाव था।

इन पंक्तियों के लेखक को उनके दौहित्र होने का सौभाग्य तो प्राप्त था ही, साथ ही उनके सर्वाधिक स्नेह-पात्र होने का भी सौभाग्य प्राप्त था। उस समय मेरी आयु लगभग ७ वर्ष की रही होगी। छोटी चेचक की बीमारी से उसी दिन स्वस्थ हुआ था। मेरे स्वास्थ्य-लाभ की खुशी में 'मीर' साहब ने उस दिन शाम को मुझे बिस्कुट के खिलौने उपहारस्वरूप ला कर दिये थे तथा सोडावाटर की बोतलों के रंग-बिरंगे ढक्कन। नमाज़ वे नियमित रूप से पाँचों समय पढ़ते थे। घर से एक फ़र्लांग की दूरी पर मसजिद थी। शाम को वे अपने एक मित्र के साथ मसजिद गये। नमाज़ पढ़ कर जब निकले तो अँधेरा हो चुका था। उस समय भाटापारा में विद्युत-प्रकाश की व्यवस्था नहीं हुई थी। स्टेशन मसजिद के बिल्कुल सामने ही पड़ता था। बंबई से आने वाली डाकगाड़ी के आने का समय हो चुका था, सिगनल गिरा हुआ था। नासिक से आने वाले अपने स्वामी की अगुवानी हेतु उन्हें स्टेशन पहुँचना था। एक तो अंधकार, दूसरे वृद्धावस्था की मंद दृष्टि। सामने मालगाड़ी के कुछ डिब्बे खड़े दिखायी दिये। प्लेटफ़ार्म पर पहुँचने की जल्दी में सोचा कि डिब्बे के नीचे से निकल जायँ। लाइन पर शंटिंग हो रही थी इंजिन ने माल-गाड़ी के एक डिब्बे को उसी लाइन पर शंट किया था जो पूरे वेग से चला आ रहा था। अंधेरे के कारण ये उसे देख न सके और ये जैसे ही डिब्बे के नीचे से निकलने लगे, वेग से आते हुए उस डिब्बे ने खड़े हुए डिब्बों को ज़ोर का धक्का दिया। धड़ाके की आवाज़ के साथ डिब्बे चल पड़े। चक्का

इनकी एड़ी काटता हुआ आगे बढ़ गया और ये लाइन से आगे जा गिरे। दुर्भाग्यवश इनके ऊनी ओवरकोट का बेल्ट बफ़र में फँस गया। उसने फिर इन्हें लाइन पर खींच लिया और गाड़ी का चक्का इनकी छाती को चीरता हुआ निकल गया। स्ट्रेचर पर डाल कर इन्हें घर लाया गया, जहाँ दो घंटे तक मृत्यु से संघर्ष करने के पश्चात अपने आश्रितों के भविष्य के सामने प्रश्नचिन्ह लगा कर 'मीर' साहब ने सदा के लिए इस संसार से विदा ले ली। यों तो प्रत्येक जीवन का अंत मृत्यु ही है परंतु सामान्य परिस्थितियों की अपेक्षा इस प्रकार की हृदयविदारक आकस्मिक दुर्घटना में होने वाली मृत्यु अपनी एक मार्मिक एवं करुण स्मृति छोड़ जाती है, जो बहुधा मृतक के प्रियजनों के हृदय को झकझोरती रहती है।

सैयद अमीर अली 'मीर' का जन्म २२ अक्टूबर, १८७३ को सागर (म० प्र०) में हुआ था। जन्म के दो वर्ष पश्चात ही वे पितृविहीन हो गये और इनके चाचा मीर रहमत अली के संरक्षण में इनका पालन-पोषण हुआ। प्रारंभ से ले कर अंत तक इनका जीवन उस गुलाब के पुष्प की भाँति रहा, जो सदा काँटों में घिरा होने पर भी अपनी मधुर मुस्कान लिये खिला रहता है और अपनी मनमोहक सुगंध से वातावरण को सुवासित करता रहता है। असाधारण एवं बहुमुखी प्रतिभा वाले, सरस्वती के आराधक मीर साहब ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी कार्यकुशलता का परिचय दिया। जबलपुर के अंजुमन इस्लामिया हाई स्कूल में ड्राइंग मास्टरी की और मध्यप्रांत में सर्वप्रथम ब्राउनिंग टीचर्स स्कॉलरशिप प्राप्त की। रियासत धर्मजयगढ़ में स्कूल के प्रधानाध्यापक भी रहे, पुलिस इंस्पेक्टर भी और फिर मजिस्ट्रेट भी। भावुक हृदय कवि होने के साथ-साथ अच्छे-खासे शिकारी भी थे और धर्मजयगढ़ के राजा साहब के साथ कई शेरों का शिकार कर चुके थे। व्यापार भी किया तथा साप्ताहिक पत्र का संपादन भी। अभिनय तो वे बड़ा अच्छा कर लेते थे। छात्र-जीवन में अपने गाँव देवरी कलाँ के रंगमंच पर उन्होंने 'सत्यवादी हरिश्चंद्र' में हरिश्चंद्र का 'धनुषयज्ञ' में परशुराम का और 'रामराज्याभिषेक' के आयोजन के समय राजा दशरथ का सजीव एवं प्रभावशाली अभिनय प्रस्तुत कर दर्शकों के मन में अपने अभिनय की अमिट छाप छोड़ दी थी। एक मुस्लिम बालक द्वारा हिंदू धार्मिक पात्रों का इतना सफल एवं सजीव अभिनय निश्चय ही 'मीर' की विलक्षण प्रतिभा एवं अद्भुत कार्यकुशलता का द्योतक है। 'मीर' साहब संस्कृत के भी विद्वान थे तथा फ़ारसी के आलिम भी। अरबी भाषा पर भी उनका अच्छा अधिकार था। इस्लाम धर्म का उन्हें विस्तृत ज्ञान था। हिंदी पत्रिकाओं में वे 'विशाल भारत', 'माधुरी', 'सरस्वती', उर्दू में 'मआरफ़', 'मदीना' तथा गुजराती भाषा का मासिक 'निज़ाम' वे नियमित रूप से मँगाते थे। उनका मन राष्ट्र-प्रेम की भावना से ओतप्रोत था तथा वे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के कट्टर अनुयायी थे। जीवन-पर्यंत उन्होंने खादी के वस्त्र ही धारण किये। ख़िलाफ़त आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण ही उन्हें रियासत की मजिस्ट्रेटी से पृथक किया गया था।

'मीर' साहब ने आजन्म हिंदी साहित्य की निःस्वार्थ भाव से सेवा की। उर्दू में उन्होंने बहुत ही कम लिखा। हाँ, अपने अंतिम समय में वे महात्मा शेख सादी की विश्वप्रसिद्ध कृति 'गुलिस्ताँ' व 'बोस्ताँ' का हिंदी पद्यानुवाद कर रहे थे, जिसके कुछ ही अंश उपलब्ध हो सके हैं।

इनकी साहित्य-सेवा का सम्मान करते हुए कुछ प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं द्वारा इन्हें 'साहित्य-रत्न', 'काव्य-रसाल' आदि उपाधियों से सम्मानित किया गया। ओरछानरेश तथा अन्य कई साहित्यिक संस्थाओं द्वारा भी इन्हें पुरस्कृत किया गया था। आचार्य द्विवेदी जी द्वारा इन्हें 'मातृ-भाषा की महत्ता' नामक निबंध पर प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। 'मुहर-मीमांसा' नामक इनका पुरातत्व संबंधी लेख काफ़ी प्रशंसित हुआ था तथा अंग्रेज़ी के अलावा कई अन्य भाषाओं में भी उसका अनुवाद हुआ।

अनमेल विवाहों की उस समय देश में बड़ी धूम थी। धनवान लोग पैसे के बल-बूते पर वृद्धावस्था में अल्पवयस्क कन्याओं को व्याह लाते थे और अपनी वासना की तृप्ति करते थे। समाज-सुधारक, प्रबुद्ध जन इस घृणित कुरीति से अत्यंत क्षुब्ध थे। 'मीर' साहब का भी ध्यान इस ज्वलंत समस्या की ओर आकृष्ट हुआ और इन्होंने 'बूढ़े का व्याह' नामक खंड काव्य की रचना कर डाली। उक्त पुस्तक का समर्पण इन्होंने कितने हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी ढंग से किया है, ज़रा मुलाहिज़ा हो,

जो यौवन का लूट चुके सुख, अब मलते रहते हैं हाथ,
बाबा कहलाते, पर रहती विषय-वासना जिनके साथ।
देख किशोरी को हो जाते जिनके आनन कूप सनीर,
उन बूढ़ों के कंपित कर में करें समर्पण सादर मीर'।

स्वतंत्रता के पुजारी इस देशभक्त कवि ने अपने देश की दुर्दशा से क्षुब्ध हो कर 'उलाहना-पंचक' में निम्न प्रकार से अपने हृदय की वेदना व्यक्त की है जिसमें खिन्नता और अवसाद का भी स्वर है, आदेश और उत्साह का भी। 'उलाहना-पंचक' में कवि हिमगिरि को उलाहना देते हुए लिखता है :

गर नहीं जीने के क़ाबिल हम रहे, तो ढहा कर शृंग हिमगिरि दे दबा।
अन्यथा जो अरि हमारे हों यहाँ, पेट में अपने उन्हें तू ले दबा।

'गंगा' को कवि उलाहना देता है :

नाम सुनते हैं तुम्हारा हम बहुत,
सार्थक करतीं नहीं क्यों नाम को,
मात गंगे, पाप अरि को दो बहा,
शुद्ध कर दो हिंद के हृद्धाम को

कवि 'हिंद सागर' को संबोधित करता है :

हिंद सागर तुम हमारे गार्ड थे
हाय, की तुमने मगर कैसे दग़ा,

जब घुसा था, शत्रु छाती चीर कर
टाँग धर पाताल को देते भगा

मातृभूमि को भी कवि उलाहना दे बैठता है :

वीर प्रसवा ! तू भरत की भूमि है
नाम को कैसा दबा तूने दिया
सुत दुखी, पर हैं विरोधी सब सुखी
देखकर ख़ुद खोल आँखें क्या किया

और अंत में कवि विश्वरक्षक को पुकार उठता है :

विश्वरक्षक क्या नहीं हम विश्व में,
क्यों नहीं देते हमें हो तुम स्वराज,
ग़ैर हैं आज़ाद, हम घर में ग़ुलाम,
क्या यही इंसाफ़ है बंदानवाज़,

'मीर' साहब स्वभाव से अत्यंत शांत, गंभीर और सहिष्णु थे। उच्च पदों पर आसीन रहते हुए भी दंभ तथा आडंबर उन्हें छू नहीं गया था। वे हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक तथा सांप्रदायिकता के घोर विरोधी थे। स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार को वे अनिवार्य समझते थे। अपने सिद्धांतों के प्रचार से वे सदैव दत्तचित्त रहे। 'मीर' एक सुधारवादी कवि थे जिन्होंने सांप्रदायिकता की कड़ियों को तोड़ कर सार्वभौमिक दृष्टिकोण जनता के सामने रखा और अपने उदार विचारों से समाज का हित किया। साहित्य-क्षेत्र में वे हिंदू आदर्शों से काफ़ी प्रभावित थे। भारतीय संस्कारों की जो अमिट छाप उनके मन पर पड़ी थी उसकी झलक इनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखायी देती है। पूर्व पुरुषों की गौरवमयी गरिमा का बखान वे इन शब्दों में करते थे :

आत्म-शक्ति थी उनमें अविचल, नहीं सताता था भय भूत।
मन पवित्र था सदाचार से, अनाचार की लगी न छूत।
उन सगुणों को यदि हम सीखें बता रहा है जो इतिहास,
कहो दाँत किसके मुंह में है? करे हमारा जो उपहास।

यदि धार्मिक बंधनों के सीमित दायरे को पार कर, भेद-भाव के संकुचित दृष्टिकोण से परे हट कर, एक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया जाय और 'मीर' साहब के व्यक्तित्व का इस दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया जाय तो निस्संदेह उन्हें एक सच्चे राष्ट्रप्रेमी भारतीय की संज्ञा दी जा सकती है।

'मीर' साहब अपने हिंदू मित्रों को दशहरा-दीवाली आदि पुनीत पर्वों के शुभ अवसर पर बहुधा पद्य से बधाई-संदेश भेजा करते थे। २० अक्तूबर, १९२२ को अपने अभिन्न मित्र तथा सुविख्यात साहित्यकार लोचनप्रसाद पांडेय को दीवाली का बधाई-संदेश निम्न कविता के रूप में प्रेषित किया था :

दीपमालिका का दिवस मंगलमय है आज,
मंगलमय हो आपको दीपमालिका साज।
दीपमालिका दीप्ति शुभ, हरै व्याधि अज्ञान,
भरै धान्य धन, स्वास्थ्य सुख, करै सकल कल्यान।
ज्यों इकत्र हो सोंहिहीं, ललित दीप की माल,
त्यों सोहै भवदीय कुल मिलित वृद्ध आबाल।
जैसे झाड़ बुहार कर शुद्ध किये घर-द्वार,
वैसे ही मन हो विमल होवे दूर विकार।
जैसे दीपक दीप्ति है करती रम्य प्रकाश,
वैसे ही भवदीय का होवे विभव विकास।
भारत संपत्तिवान हो, नसै फूट, दुख, पीर,
खादी की गादी रहे सदा सलामत 'मीर'।

आज 'मीर' हमारे बीच नहीं, परंतु उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से राष्ट्र-प्रेम तथा एकता का जो संदेश हम भारतवासियों को दिया है, उसी के प्रकाश में हमें अपना मार्ग प्रशस्त करना है। दीपावलि के झिलमिलाते हुए अनगिनत दीपों की ज्योति को साक्षी कर हमें यह प्रण करना है कि हम राष्ट्रीय एकता के बंधनों को सुदृढ़ करते हुए सांप्रदायिकता के विकराल दानव को कभी भी इस पावन धरती पर अपना अंधकार नहीं फैलाने देंगे। देश की सुख-समृद्धि एवं स्वतंत्रता की रक्षा हेतु सर्वस्व त्याग करने को सदा तत्पर रहेंगे। इस स्वाभिमानी देशभक्त साहित्यकार की यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

—कोहली गुड्स कैरियर,
ग्रेट ईस्टर्न रोड, रायपुर (म० प्र०)

विविधा

●●

वीरेन्द्र शर्मा

विघटन की प्रक्रिया

मद्यपान

सामाजिक एवं व्यक्तिगत विघटन के अन्योऽन्य कारणों में शराब के प्रयोग का बड़ा हाथ है। पाश्चात्य देशों तथा उच्च घरानों में मद्य-प्रयोग को आधुनिक सभ्यता का एक आवश्यक अंग माना गया है। अन्योऽन्य सामाजिक उत्सवों में उसका प्रयोग होता है। व्यापारिक समझौतों के अवसर पर, परिणय-संस्कारों के समय, बच्चे के जन्म पर, युद्ध या खेल-कूद में विजय होने पर, नितांत पीड़ा के क्षणों में मानव हमेशा मद्य के प्याले की ओर बढ़ा है ताकि वह होने वाली पीड़ा की अनुभूति को एक निश्चित काल-खंड के लिए भूल सके। मद्य-प्रयोग के पश्चात मनुष्य अपने दुख-दर्द की सीमाएँ लाँघ कर एक नयी दुनिया में प्रवेश करता है, जहाँ वह है और उसकी अपनी खुशियाँ।

बावजूद इन सबके, मद्य-प्रयोग अनैतिकता की जननी है। इसके प्रभाव में चरित्रवान व्यक्ति भी यौन-विकारों का शिकार होता है। एक बार अपनी जड़ें जमा लेने के पश्चात इससे छूटने के तरीक़े लगभग नहीं हैं। इसका प्रयोग निश्चय ही व्यभिचार के मार्ग पर ले जाता है।

मद्य-प्रयोग से होने वाले शारीरिक कुप्रभाव किसी से छिपे नहीं हैं फिर भी निस्संदेह कहा जा सकता है कि श्रेष्ठतम साहित्य की रचना मद्यपान के अनंतर ही की गयी है। इसके प्रयोग से ही मनुष्य उन कार्यों का संपादन सफलतापूर्वक कर सका जिनका किया जाना साधारण स्थितियों में असंभव था। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मद्य का प्रयोग नहीं वरन् दुष्प्रयोग विघटन का कारण है। व्यक्तिगत रूप से विघटन तब आरंभ होता है जब व्यक्ति बहुत अधिक मात्रा में मद्य-पान आरंभ कर देता है। उसका एकमात्र उद्देश्य होता है शराब पी कर अपना होश गँवा देना और जीवन की वस्तु-स्थितियों से नाता तोड़ लेना।

चिकित्सा-विज्ञान हमें बताता है कि कुछ मनुष्यों की शारीरिक बनावट ही ऐसी होती है कि उन्हें मद्य की आवश्यकता महसूस होती है। बोमान एवं जेलीनेक के अनुसार आनुवंशिक विषमताओं के कारण कुछ व्यक्तियों में मद्यपान के पश्चात उसे पचा सकने की क्षमता अन्य की अपेक्षा अधिक होती है। जिनमें यह क्षमता कम होती है उनके शराबी होने की संभावना अधिक होती है। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार साधारण मात्रा में मद्यपान के परिणामस्वरूप व्यक्ति का शरीर मद्य पर निर्भर रहने का आदी हो जाता है। मद्य पर शारीरिक निर्भरता को शरीर पर होने वाले रासायनिक प्रभावों एवं परिवर्तनों के द्वारा समझाया गया है। यह सिद्धांत हमें यह नहीं बताता कि कुछ व्यक्ति जो मद्यपान करते हैं, क्यों नहीं इसके आदी हो जाते जब कि अन्य व्यक्तियों के साथ ऐसा होता है।

विटमान के अनुसार शराबी मानसिक एवं नैतिक प्रतिरोध के अभाव एवं अस्थिर मनोविचारों के कारण अपनी इच्छाओं एवं उनकी विकृत अभिव्यक्तियों पर रोक लगाने में असमर्थ रहता है। उसके मानसिक गठन में स्वार्थी एवं असामाजिक तत्वों का हाथ रहता है। मद्यपान के पश्चात व्यक्ति का अंतर्मन अपने सच्चे रूप में प्रकट होता है। एक शराबी तथाकथित साधारण व्यक्ति से भिन्न होता है। उसका पालन ऐसे परिवार में हुआ जहाँ माता की पात्रता प्रबल थी; पिता बहुत ही शासन-प्रिय थे। बहुत कम स्वतंत्रता में रहते हुए बच्चे को आज्ञाकारिता का पालन करना पड़ा। इस पार्श्वभूमि ने बच्चे में असुरक्षा की भावना को पनपाया। विपरीत यौन वालों के लिए उनके मन में तीव्र आकर्षण उत्पन्न हुआ, प्रणय-व्यापारों में भी वह बहुत आगे रहा, किंतु ब्याह होने पर वह हमेशा असफल रहा। यह बात उसके दिमाग़ में बैठ जाती है कि वह दुनिया के सर्वाधिक हीन एवं तिरस्कृत व्यक्तियों में से एक है और मद्य-प्रयोग हीनता एवं तिरस्कार से कुछ समय के लिए छुटकारा दिलाता है।

स्ट्रेकर के मतानुसार शराबी वह व्यक्ति है जो वास्तविक परिस्थितियों का सामना मद्य-प्रयोग के बिना नहीं कर सकता। अत्यधिक मद्यपान हीन-भावना को प्रगट करता है। अपने बारे में उसकी जो मान्यताएँ हैं और उसकी समाज में जो वास्तविक स्थिति है—इन दोनों के बीच एक खाई है जिसे वह मद्य के अत्यधिक प्रयोग से पाट देना चाहता है। इस भाँति उसका अहम् अपनी सीमित परिधियों के बारे में जानबूझ कर अचेत बना रहता है।

मनोविश्लेषण हमें बताता है कि मद्य-प्रयोग समलिंगी भावनाओं का द्योतक है। वह पुरुष जिसने अपनी जन्मजात समलिंगी भावनाओं का पूर्णतया दमन नहीं किया है; मद्य-प्रयोग के द्वारा इस दिशा में क़दम उठाता है। यह बात इसलिए प्रमाणित मानी जा सकती है कि मद्य-प्रयोग का प्रचार पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होता है। शराब यौन-भावना की हीनता पर विजय प्राप्त करने का एक अचूक तरीक़ा है। परिणामस्वरूप पुरुष मद्य के प्रभाव में अधिक पौरुषशील हो जाता है और इस तरह यौन-शक्ति की क्षीणता के साथ ही इसके प्रयोग की मात्रा बढ़ती जाती है।

स्लेसिंजर के अनुसार अत्यधिक मद्यपान को अनेक कारणों के प्रकाश में समझा जा सकता है। शराबी उन स्थितियों से भाग जाना चाहता है, जिन्हें वह सहन नहीं कर सकता। विघटित

व्यक्तित्व की सूचना देता है उसका निरंतर मद्य-प्रयोग शारीरिक दर्द एवं मानसिक यातना से सामयिक छुटकारे के लिए भी इसका प्रयोग होता है।

मद्यपान एक अर्थ में यौवन एवं पौरुष का प्रतीक है। कुछ व्यक्ति मद्य-प्रयोग के पश्चात अधिक वाचाल, अधिक सामाजिक एवं साहसी हो जाते हैं। यह भी हो सकता है कि इन्हीं गुणों की प्राप्ति के लिए ही कुछ लोग इसका प्रयोग करते हों। विपरीत इसके, कुछ व्यक्ति मद्यपान के पश्चात अधिक उदास, असामाजिक एवं वहशी हो जाते हैं। अपने समस्त विचारों तथा कार्यों के केंद्र वे स्वयं होते हैं। शराबी को वे सब सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिनका अधिकारी वह साधारण स्थिति में नहीं होता। शराब पीने के बाद वह ध्यान-आकर्षण का केंद्र बन जाता है, परिवार के सदस्यगण उसके लिए योजनाएँ बनाते हैं, मित्रों की सहानुभूति उसे प्राप्त होती है; यहाँ तक कि राह चलते अनजान व्यक्ति भी उसकी मदद करते हैं।

अतः मद्यपान व्यक्तिगत एवं सामाजिक विघटन की जननी है, अन्योऽन्य कुसंस्कार इसके आश्रय में पनपते हैं, व्यभिचार एवं अपराध को प्रश्रय मिलता है और व्यक्ति का जीवन स्वयं अंधकारमय एवं निराशाजनक हो जाता है। कहा जाता है कि इससे त्राण इस जीवन में नहीं वरन मृत्यु के बाद ही मिलता है।

मद्यपान की कार्य-कारण-शृंखला में जो वास्तविकता है वही वास्तविकता उसकी दुर्वृत्ति में भी है यद्यपि इसका सेवन सद्वृत्ति से भी होता है। सेवन की सद्वृत्ति यदि आदर्श है तो दुर्वृत्ति यथार्थ। विचार और आचार के संयुक्त सहगमन के लिए शक्ति की ज़रूरत होती है; भले ही ये आचार या विचार सद्गति के हों या परागति के। मद्य आचारहीन व्यक्ति के व्यक्तित्व या विचार की अभिव्यक्ति है। इसका जितना ही आचार तथा विचार से गहन कार्य-कारण-संबंध है, उतना ही नगण्य संबंध है समाज के विभिन्न स्तरों से। उच्च वर्ग आनंद और विलास के लिए सभ्यता व संस्कार के नाम पर तो निम्न वर्ग कुसंस्कार एवं कुरीतियों से इसका प्रयोग करता है। मध्य वर्ग डावाँडोल स्थिति में उच्चवर्गीय सुख की लालसा अथवा दुख-दमन की भावना से मद्य-प्रयोग करता है। सामान्यतः क़ब्ज़, चिंता, प्रिय वस्तु का अभाव, उदासी, सामाजिक तिरस्कार, आत्म-अवहेलना अथवा असंतुष्ट भावनाओं से छुटकारा पाने के लिए मद्य का व्यापक प्रयोग होता है। मनुष्य जिन परिस्थितियों से घिरा होता है उनकी पुनरावृत्ति से उसके चित्त को प्रसन्नता नहीं मिलती, अतः वह उन परिस्थितियों से मुख मोड़ कर उस छोर को पकड़ना चाहता है जिसका वास्तविक जगत की वस्तुस्थितियों एवं मान्यताओं के प्रत्यक्षीकरण से सीधा संबंध नहीं। मद्य-प्रयोग इसी अंतर एवं बाह्य की वास्तविकता से पलायन है। शराबी वह है जिसका यथार्थ पर पूर्ण अधिकार नहीं। निरंतर मद्यपान उस व्यक्तित्व की सूचना देता है जो यथार्थ की पुनः सृष्टि के प्रयत्न में असफल रहा है। मद्यहीनता की अभिव्यक्ति है, विघटन की सूचना है एवं कुंठा का पर्याय है। जहाँ आदर्श कुंठित हो गया है और आदर्शहीन हो कर जीने की क्षमता नहीं, वहाँ शराब ही सहारा है। निरंतर प्रयोग से जैसे-जैसे यह हावी होती जाती है, मानव तथा मानवीयता टूक-टूक हो जाती है। यह हीनता एवं कुंठा विशिष्ट नहीं, सामान्य है और देश, काल अथवा वर्गविशेष से बाधित है।

आत्महत्या

संभवत: व्यक्तिगत विघटन की अंतिम सीमा आत्महत्या है। इसे दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है—(१) आत्महत्या जिसमें व्यक्ति का उद्देश्य अपने जीवन का अंत करना होता है, (२) आत्महत्या करने के वे प्रयास जो सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से किये जाते हैं।

आत्महत्या के सिद्धांतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) मनोवैज्ञानिक एवं (२) सामाजिक। मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को फ़ायड से बल मिला। मानव-व्यवहार को उसने दो विरोधी इच्छाओं के द्वारा समझाया—जीवन की इच्छा एवं मरण की इच्छा। एक व्यक्ति दूसरे को मारने की इच्छा रखता है किंतु विषम परिस्थितियों में ऐसा न कर सकने के कारण वह अपने जीवन का अंत कर देता है।

मेनिंजर ने फ़ायड की मृत्यु-इच्छा को तीन खंडों में विभक्त किया है--(१) मरने की इच्छा, (२) मारने की इच्छा एवं (३) मारे जाने की इच्छा। प्रथम एवं द्वितीय इच्छाओं के अभाव में स्वयं-पीड़न-प्रणाली के द्वारा व्यक्ति आत्महत्या करता है।

विलियम आर रॉल्फ़ के अनुसार आत्महत्या किसी दूसरे की हत्या करने की इच्छा या किसी समस्या से जान छुड़ा कर भागने की इच्छा का प्रदर्शन करती है। यह बात सच भी हो सकती है, क्योंकि व्यक्ति निराशा की चरम स्थिति में, उस व्यक्ति अथवा वस्तु को नष्ट कर देना चाहता है जो उसकी निराशा के लिए ज़िम्मेवार है। किंतु सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति की इच्छाओं की तुरंत पूर्ति नहीं होने देतीं, अत: नष्ट करने की जो तीव्र भावना व्यक्ति में है वह स्वयं में केंद्रित हो जाती है और वह व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। यदि वह व्यक्ति, जो दूसरे के दुख अथवा निराशा का कारण है, स्वयं किसी बीमारी से मर जाता है तो उस स्थिति में भी यह सोच कर संतोष किया जा सकता है कि उसकी मृत्यु के ज़िम्मेवार हम स्वयं हैं। आत्महत्या के द्वारा व्यक्ति उन स्थितियों से भाग जाना चाहता है जो उसके लिए कष्टकर हैं; दुखदायी हैं।

डब्लिन एवं बुंजेल के मतानुसार आत्महत्या की भावना उन्हीं तत्वों के द्वारा पनपती है जो अन्य मानसिक रोगों को जन्म देते हैं—जैसे कि डर एवं चिंता, अपराध की भावना, घृणा आदि और इन्हीं के दमन के परिणामस्वरूप आत्मघात की भावना विकसित होती है।

हीनता एवं अयोग्यता की भावना सामाजिक अनुबंधों के विपरीत पड़ती है। यदि ये भावनाएँ इतनी तीव्र हैं कि इन पर मानसिक प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता तब आत्महत्या के प्रयत्न हो सकते हैं।

आत्मघात के सामाजिक सिद्धांत मुख्यत: डुरखेम व कैव्हन के द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। डुरखेम के अनुसार आत्मघात की धारा सामूहिक चेतना का अंश रूप में प्रदर्शन करती है। यह व्यक्ति एवं सामाजिक संगठन के संबंध का भी परिचय देती है। आत्महत्या के प्रभावी कारणों में से एक व्यक्ति पर से सामाजिक नियंत्रण का उठ जाना है अथवा इसकी गहनता का कम हो जाना है, जिसमें व्यक्ति अराजकताप्रिय हो जाता है। इस तरह डुरखेम आत्मघात को तीन श्रेणियों

में बाँटता है—(१) प्राचीन समाज में वृद्ध, रोगी एवं अशक्त व्यक्तियों का आत्मघात, धार्मिकता से प्रेरित आत्मघात, महिलाओं के द्वारा अपने पति की मृत्यु पर आत्मघात एवं आधुनिक समाज में सैनिकों का युद्ध में भाग लेना जिसका अर्थ है—निश्चित मृत्यु, (२) वे आत्मघात जिनमें व्यक्ति क्रमबद्ध असफलताओं, निराशाओं तथा हीन भावनाओं से जूझने की शक्ति खो बैठता है। इस तरह उसके सामाजिक संबंध टूटते जाते हैं और वह एक तरह से 'अकेला' हो जाता है। वह समाज के प्रति कोई आभार अनुभव नहीं करता और अंततः वह सामूहिक चेतना के अंश के रूप में निष्क्रिय हो जाता है। सामाजिक शून्यता एवं निष्क्रियता की स्थिति में वह कभी भी उत्तेजित होने पर आत्महत्या कर सकता है। (३) वे आत्मघात जो सामाजिक अनुबंधों के छिन्न-भिन्न हो जाने से होते हैं जिनमें व्यक्ति के ऊपर से सामाजिक नियंत्रण हट जाता है और वह स्वेच्छाचारी हो जाता है और सामाजिक समानता एवं नैतिकता का अंत हो जाता है। भीषण आर्थिक उतार-चढ़ाव इस तरह के आत्मघात के प्रभावी कारण हो सकते हैं।

कैव्हन के मतानुसार आत्महत्या उन तरीक़ों में से एक है जो व्यक्ति सामाजिक अनुबंधों के मध्य उठने वाली समस्याओं के समाधान के लिए प्रयोग में लाता है। अन्योऽन्य समस्याओं का समाधान वह प्राकृतिक रूप से स्वभावतया ही कर लेता है, किंतु समाधान की असफलता व्यक्ति को निराश, असंतुष्ट एवं व्यक्तिगत रूप से विघटित बना देती है और इस तरह व्यक्तिगत विघटन कई प्रकार से प्रश्रय पाता है—मद्यपान, यौन-विकार, अपराध, पागलपन और अंततः आत्महत्या।

साधारणतया आत्महत्या को श्रेणी की दृष्टि से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) जिसमें व्यक्ति पूर्णतया सोच-विचार के पश्चात स्वनाश की योजना बनाता है। उसे इस बात का पूर्ण ज्ञान होता है कि उसके समक्ष आत्महत्या के सिवा अन्य कोई चारा नहीं। (२) दूसरे प्रकार की आत्महत्या को फ़ायड 'वास्तविकता से पलायन' के प्रकाश में समझाता है। व्यक्ति जब सब तरफ़ से निराश हो जाता है या असफल हो कर उससे जिया जाना असंभव हो जाता है तब वह आत्महत्या का सहारा लेता है।

किशोर वय की आत्महत्याएँ एक अजीब ही समस्या का प्रतिपादन करती हैं। किशोर पीछे लौट कर देखता है कि उसके सुख एवं निश्चितता के दिन बचपन के साथ ही समाप्त हो गये, वह महसूस करता है कि उसके निर्बल कंधों पर अनायास ही अनेकानेक उत्तरदायित्व का भार आ पड़ा है—उसका कार्यक्षेत्र घर, पड़ोस व स्कूल की चहारदीवारियों को लाँघ कर विस्तृत हो जाता है, अनजान व्यक्तियों के बीच वह अपने आपको एक अजनबी की तरह ही महसूस करता है, और इस तरह उसका व्यक्तित्व उलझनों एवं दबावों का अनुभव करता है। डर एवं असुरक्षा की भावना उसे आत्महत्या का शिकार बना देती है, बचपन में 'अँधेरे का डर' किशोरावस्था में 'अनजान व्यक्ति से मिलने में संकोच' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जीवन की अन्योऽन्य समस्याएँ, तूफ़ानी लहरों की तरह, किशोर मन में उमड़ा करती हैं, वह स्पष्टतया अनुभव करता है कि उसके विचार एवं आदर्श वास्तविक जगत से मेल नहीं खा रहे हैं, इस तरह की आत्महत्याओं में बदले की भावना का पुट होना—कोई आश्चर्य की बात नहीं, किशोर यह सोच सकता है कि उसके आत्महत्या करने से वे सब दुखित होंगे, जो उसे प्यार करते थे। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ने आत्महत्या का साधन

निर्माण किया है। ऐसा देखा जाता है कि कई स्थानों में संस्कृति एवं सभ्यता ने आत्महत्या को बढ़ावा दिया है, तो कितने स्थानों पर इसमें रोक लगायी है, जैसे जापान में हाराकीरी व भारत में सती-प्रथा। सती-प्रथा को भारत में सामाजिक मान्यता प्राप्त थी, जिसके अनुसार पति की मृत्यु होने पर पत्नी जीते-जी जलती चिता पर कूद जाया करती थी—और उसका यह कृत्य पति के प्रति उसकी अंतिम निष्ठा के रूप में एक उत्तम प्रतीक समझा जाता था। ईसाई संस्कृति ने आत्म-हत्याविरोधी पृष्टभूमि का निर्माण किया है। ईसाई धर्म बताता है कि व्यक्ति को उसके कृत्यों का फल अच्छे या बुरे के अनुरूप इसी जीवन में मिलता है। कैथलिक चर्च ने आत्महत्या से मृत्यु का वरण करने वालों को गिरजाघरों में दाहसंस्कार के लिए स्थान देने से इंकार किया है। तात्पर्य यह कि आत्महत्या करने वाला व्यक्ति स्वर्ग में स्थान पाने का अधिकारी नहीं हो सकता; इस धार्मिक विचारधारा ने आत्महत्या का परोक्ष रूप से विरोध किया है।

आधुनिक विश्व की प्रकृति ने एवं उसकी अन्योऽन्य संस्कृतियों ने ऐसे स्वभाव को पनपाया है जो आत्महत्या के स्थानापन्न रूप में सामने आया है। नितांत अपमान एवं क्षोभ के वातावरण से व्यक्ति भाग कर बिल्कुल नये वातावरण में नव जीवन आरंभ करता है—जैसे उसका पहला जीवन समाप्त हो गया हो। इसी भाँति जितने आधुनिक समाज को अत्यधिक परेशानियों एवं उलझनों व उत्तरदायित्वों से भरा पाया उन्होंने निर्जन स्थान में एकाकी जीवन का चुनाव किया। दक्षिणी समुद्रों के रोमांटिक द्वीपों का प्रयोग सामाजिक जीवन से त्रस्त. आधुनिक सभ्यता से क्लांत अभियांत्रिक प्रगति से भौंचक व्यक्तियों के द्वारा होता है।

बड़े-बड़े नगरों की हलचल से दूर उपनगर होते हैं जहाँ शहर का व्यस्त जीवन नहीं दीख पड़ता, यह सामाजिक अलगाव जीवन के प्रति उदासीनता को प्रकट करता है—साथ ही यह स्वघात का मार्ग है। समाज, उसकी व्यवस्था, उसके आचार-व्यवहार, सभ्यता एवं संस्कृति को व्यक्ति जब मान्यता प्रदान करने से इंकार करता है—या इन्हीं कर्तव्यों के उत्तरदायित्वों से दूर भागना चाहता है, तो वह जीवन की सामान्य धारा से अलग हट जाता है। कुछ धर्मों ने इस विचारधारा का प्रतिपादन किया है कि वास्तविक जीवन, मृत्यु के बाद है, यह शरीर पार्थिव है, मृत्यु के पश्चात समस्त दुखों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। प्रिय व्यक्ति से अगले जन्म में मिलने की उत्सुकता, उसके साथ ही क़ब्र पर स्थान पाने की आकांक्षा—ने भी आत्मघात की भावना को बढ़ावा दिया है।

अस्तित्ववादी दर्शन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि आधुनिक सामाजिक व्यवस्था, क्षोभ, निराशा, कुंठा, पीड़ा एवं अनवरत अकेलेपन से ऊब कर हर व्यक्ति एक बार आत्महत्या की बात अवश्य सोचता है, या जीवन से पलायन का अवश्य ही एक प्रयास करता है। साथ ही पश्चात्ताप या दंड पाने की भावना ने भी स्वघात की भावना के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण किया है। कुछ व्यक्तियों का मानसिक गठन, कुछ ऐसा होता है कि उन्हें चारों ओर सिर्फ़ विरोध व असफलताएँ ही दीख पड़ती हैं। उन्हें लगता है कि जीने के लिए उन्हें हर पग पर विरोधी तत्वों एवं कंटकपूर्ण परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा। जीवन ने जो कुछ प्रदान किया है वे उस पर ही दृष्टिपात नहीं करते। जीवन की दौड़ में थके या हारे हुए, मनोविकारों से ग्रस्त, स्वनिर्मित पीड़ाओं से टूटे हुए, व्यक्ति:

स्वघात की योजना बना कर, सामाजिक अनुबंधों व नियंत्रणों से मुक्त होने का दिवास्वप्न देखता है। शायद ज्याँ पाल सार्त्र ने इन्हीं कारणों के प्रकाश में कहा है कि मानव और पशु में सिर्फ़ एक अंतर है--कि व्यक्ति आत्महत्या कर सकता है जब कि पशु नहीं। किंतु आत्महत्या का मार्ग संभवत हमें पशुता की ओर प्रेरित करता है।

—ग्राम तथा पोस्ट फटनई,
द्वारा अकलतरा,
द० पू० रेलवे,
बिलासपुर (म० प्र०)

श्रीकृष्ण

विवाह की अनोखी प्रथाएँ

हम लोगों में तो लड़की सयानी हुई नहीं कि माँ-बाप को उसके विवाह की चिंता का बुखार चढ़ा। लेकिन आपको जान कर आश्चर्य होगा कि इंडोनेशिया में लड़की वालों को नहीं, लड़के वालों को शादी की फ़िक्र करनी पड़ती है। अपने लड़के को विवाह योग्य देख कर वे लड़की ढूँढ़ते हैं। लड़की मिलने पर वे लड़की देखने पहुँचते हैं; लेकिन मज़े की बात यह कि इस उद्देश्य का ज़िक्र वे बिल्कुल नहीं कर सकते। इन लोगों की कोई ख़ास ख़ातिर नहीं की जाती। बाद में लड़की भोजन परोसने आती है। लड़की पसंद आने पर लड़के वाले खुले रूप में अपना प्रस्ताव रखते हैं। अब लड़की वालों की इच्छा पर है कि संबंध स्वीकार करें अथवा मना कर दें। यदि वे मान जाते हैं तो लड़के वालों को अपनी हैसियत के अनुसार बढ़िया-बढ़िया उपहार भेजने पड़ते हैं। यदि ये उपहार लेने के बाद लड़की वाले संबंध तोड़ना चाहें तो उन्हें उपहारों का दुगुना मूल्य लौटाना पड़ता है। यही कारण है कि लड़के वाले बहुमूल्य से बहुमूल्य उपहार भेजते हैं ताकि या तो रिश्ता टूटे नहीं, और टूटे तो खूब रुपया वापस मिले।

यहाँ विवाह के समय वधू को फूलों से सजाया जाता है। शादी के बाद ये फूल वधू की सहेलियों में बाँट दिये जाते हैं। समझा जाता है कि इससे उसकी सहेलियों की शादी भी जल्दी होगी।

मोटापा हो सौंदर्य

शायद आप विश्वास न करें कि इस धरती पर एक ऐसी भी जाति है जिसमें पतली लड़की की अपेक्षा मोटी लड़की को पति आसानी से मिल जाता है।

इब्रो जाति में जो स्त्री जितनी अधिक मोटी होती है उतनी ही अधिक रूपवती समझी जाती है। यही कारण है कि इब्रो युवकों में मोटी से मोटी पत्नी पाने की होड़-सी लगती रहती है। इन लोगों में लड़की मुँह देख कर नहीं पसंद की जाती, बल्कि पीछे से देख कर या तोल कर मोटी से मोटी स्त्री चुन ली जाती है।

विवाह की तिथि से कई महीने पहले ही से लड़की को एक अलग कमरा दे दिया जाता है। उसको ख़ूब खिलाया-पिलाया जाता है और रोज़ उसके शरीर में तेल की मालिश की जाती है। परिणामस्वरूप विवाह की तिथि तक लड़की काफ़ी मोटी हो जाती है।

बधू विवाह-मंडप से भागती है

बंजारों की विवाह-प्रथा भी कुछ कम अनोखी नहीं। रिवाज़ के अनुसार कुछ संस्कारों के बाद वधू विवाह-मंडप से भागती है और पंडित को दौड़ कर उसे पकड़ना होता है। यही कारण है कि हैदराबाद के बंजारे इस अवसर पर अपनी लड़कियों को बहुत हल्के कपड़े पहनाते हैं ताकि लड़की तेज़ी से भाग सके। जब पंडित लड़की का पीछा करता है तो कन्यापक्ष के लोग पंडित को चावल, सुपारी और इमली फेंक कर मारते हैं। यदि पंडित को चोट लग जाय और वह चिल्लाये, तो शुभ माना जाता है। जब पंडित वधू को पकड़ कर लाता है, तब उसे वरपक्ष की ओर से दक्षिणा दी जाती है।

शराब की बोतल का प्रतीक

तिब्बत में एक स्थान है फारो। यहाँ विवाह की बड़ी ही अद्‌भुत प्रथा है। लड़के का पिता लड़की वालों के साथ विवाह की बात चलाने के लिए एक दलाल नियुक्त करता है। यह दलाल ख़ूब बन-ठन कर और हाथ में शराब की बोतल ले कर लड़की के घर जाता है। यह बोतल विवाह के प्रस्ताव का प्रतीक होती है। अगर लड़की का पिता बोतल ले लेता है तो समझा जाता है कि उसे यह विवाह-संबंध स्वीकार है। इसके बाद लड़के का पिता लड़की की माँ को एक निश्चित रक़म देता है जो लड़की को पिलाये गये उसके दूध का मूल्य माना जाता है।

नियत दिन वरपक्ष के लोग लड़की के घर जाते हैं। लड़का स्वयं बारात में नहीं जाता। इन्हीं बारातियों के साथ लड़की की बारात लड़के के घर आती है। घर के दरवाज़े पर दोनों पक्षों में रोचक वाद-विवाद होता है और अंत में वधू घर के अंदर प्रवेश करती है। वधू के घर में क़दम रखते ही वर की माँ पाँच रंगों के फूलों का एक तीर वधू की गर्दन पर रखती है। बस, इस रस्म के बाद विवाह संपन्न समझा जाता है।

यदि वर के छोटे भाई भी हों तो यहाँ की प्रथा के अनुसार वधू को एक-एक वर्ष के अंतर से अपने सब देवरों की भी पत्नी बनना पड़ता है। फारो-समाज में जिस स्त्री के जितने अधिक पति होते हैं, वह उतनी ही अधिक सौभाग्यशाली और अधिकारसंपन्न समझी जाती है।

सौतों में मल्ल-युद्ध

न्यू ब्रिटेन में जब कोई पुरुष एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह करना चाहता है तो उसे एक विचित्र किंतु रोचक प्रथा का पालन करना होता है। उसकी पूर्वपत्नी और नयी पत्नी दोनों अपने-अपने शरीर पर काला रंग पोत कर समुद्र के किनारे जाती हैं और परस्पर लड़ती हैं। दोनों में जो ज़्यादा ताक़तवर होती है वह कमज़ोर को समुद्र में ढकेल देती है; फिर उसे निकाल लिया जाता है। इसके बाद दोनों फिर हाथ में हाथ डाल, हँसती हुई घर लौट आती हैं।

पान का बीड़ा कामदेव की भूमिका अदा करता है

बोर्नियो के नरमुंड के शिकारी, ड्याक नामक आदिवासियों में कोई युवक जिस लड़की से प्रेम करता है, रात में उसके पास जा कर उसकी हथेलियों को सहलाते हुए पान का बीड़ा भेंट करता है। यदि उसकी प्रेमिका उसे स्वीकार कर लेती है, तो प्रेमलीला प्रकट रूप में होने लगती है। आस-पास के सभी लोग मानो उनकी ओर से आँख-कान बंद कर लेने का ढोंग रचते हैं। कई रात तक उनकी प्रेम-क्रीड़ा चलती रहती है। अंत में मुखिया की सहमति से दोनों विवाह-सूत्र में बँध जाते हैं। इस उपलक्ष में पति की ओर से पत्नी के परिवार को घड़ियाल भेंट किया जाता है।

पत्नी में भी भाइयों की साझेदारी

दक्षिण भारत में नीलगिरि की उपत्यका में तोडा नामक एक अत्यंत रूपवान जाति निवास करती है।

जायदाद को बँटने से बचाने के लिए तोडा लोगों में प्रथा है कि एक स्त्री सभी भाइयों की पत्नी होती है; यहाँ तक कि विवाह के बाद अगर इन भाइयों का और कोई भाई पैदा होता है तो युवा होने पर वह भी अपने भाइयों की अपने से कहीं बड़ी उम्र की पत्नी का पति बन जाता है।

सभी भाइयों द्वारा एक ही स्त्री से विवाह कर लेने से यह समस्या अवश्य पैदा हो गयी है कि तोडा लड़कियाँ काफ़ी बड़ी संख्या में अविवाहित ही रह जाती हैं। इसी का दुष्परिणाम है कि तोडा लोगों में प्रायः लड़कियों को जन्म लेते ही मार डाला जाता है।

दर्पण में भेंट

अफ़ग़ानिस्तान में विवाह संबंधी एक मनोरंजक रिवाज़ है—'आइने मसफ़'। इसका अर्थ है—'दर्पण में भेंट'। वर और वधू एक चौकी पर बैठ जाते हैं और उनके सामने एक बड़ा दर्पण रख दिया जाता है। वे अपनी पहली भेंट में एक-दूसरे की ओर सीधे नहीं देख सकते। पहले वे दर्पण में एक-दूसरे का मुँह देखते हैं। लड़के को इस अवसर पर बड़ी शिष्टता बरतनी पड़ती है।

राजा की आज्ञा के बिना विवाह नहीं

दक्षिणी अफ़्रीका के पूर्वी भागों में बसने वाली जुलु जाति में बहुत पहले विवाह की एक

बड़ी ही विचित्र प्रथा प्रचलित थी। यह प्रथा जुलु राजाओं ने अपने सैनिक संगठन को दृढ़ करने के लिए चलायी थी। इस प्रथा के अनुसार एक वर्ष अथवा दो-तीन वर्षों की अवधि में पैदा हुए लड़कों का एक दल बना लिया जाता था। इसी प्रकार लड़कियों का भी एक दल बना लिया जाता था। जब लड़कों का दल बड़ा हो जाता था, तब राजा या तो उन्हें युद्ध में भेज देता था या उन्हें झोपड़ियाँ बनाने या खेत जोतने का काम सौंपता था। राज्य के क़ानून के अनुसार वे बिना आज्ञा लिये विवाह नहीं कर सकते थे। जब राजा चाहता था तब लड़कों और लड़कियों के एक-एक दल को विवाह की अनुमति दे देता था। उस दल के लड़के केवल उन्हीं लड़कियों में से अपनी पत्नी चुन सकते थे। यदि कोई लड़की दल के बाहर के किसी युवक से विवाह करती थी, तो उसे दंड दिया जाता था। इस क़ानून का उद्देश्य यह था कि युवक-युवतियाँ देर से विवाह कर के स्वस्थ संतान पैदा करें। किंतु अब यह क़ानून उठ गया है। अब वहाँ क़बीले के मुखिया के संमुख विवाह होता है। मुखिया क या से पूछता है कि क्या वह अपनी पसंद के युवक से विवाह कर रही है? जब विवाह की बातचीत पक्की हो जाती है तब यह तय किया जाता है कि लड़की के पिता को कितना दहेज़ दिया जायगा। वह दहेज पशुओं के रूप में होता है। यदि कन्या को बुरा व्यवहार करने के कारण तलाक़ मिल जाता है या वह निःसंतान मर जाती है तो कन्या का पिता इन पशुओं को उसके पति को लौटा देता है, लेकिन यदि पति स्त्री के साथ बुरा व्यवहार करता है जिससे दुःखी हो वह मैके लौट जाती है तो कन्या का पिता उन पशुओं को ज़ब्त कर लेता है।

विवाह का उपहार पा कर वधू रोती है

फ़िजी द्वीप में विवाह के तीन दिन पहले से ही वर को नित्य नारियल का तेल शरीर में लगाना पड़ता है और वधू को हल्दी। चौथे दिन वर वधू को किसी दुर्लभ वस्तु का उपहार देने जाता है। उपहार पा कर वधू ऊँचे स्वर में रोना शुरू कर देती है। उसके परिवार की स्त्रियाँ उसे समझा-बुझा कर चुप कराने की कोशिश करती हैं और उसके चुप होते ही उसे नज़दीक़ के किसी त.लाब में ले जा कर नहलाया जाता है। इसके बाद वर और वधू के परिवार वाले उसी तालाब में विवाह-भोज के लिए मछलियाँ पकड़ते हैं। भोज के समय वर-वधू एक साथ एक ही पात्र में भोजन करते हैं और विवाह संपन्न समझा जाता है

लड़की दे कर लड़की लेना

ब्रिटिश न्यूगिनी प्रदेश में पलाई नदी के किनारे जो आदि जाति बसती है, किवाई पायल कहलाती है। इन लोगों में शादी उसी स्थिति में हो सकती है, जब वर वधू के बदले में अपने संबंध की कोई लड़की, लड़की की बिरादरी में दे। यह आदान-प्रदान एक आम रिवाज़ है—लड़की दे कर लड़की लेना। दोनों पक्षों में इसी बात पर अक्सर ख़ून-खराबी भी हो जाती है।

क़िस्तों में वधू-मूल्य

नेफ़ा का एक भाग है लोहित की घाटी। इस इलाक़े में मिश्मी नामक जाति के आदिवासी

क़बीले रहते हैं। मिश्मी लोगों में यदि किसी युवक का मन किसी लड़की पर आ जाय तो वह लड़की की सहमति लेने के लिए एक दूती उसके पास भेजता है। यदि लड़की की भी सहमति हो तो वर-पक्ष की ओर से कोई बुज़ुर्ग विवाह का प्रस्ताव ले कर लड़की के माँ-बाप के पास जाता है। अगर वे भी इस विवाह-संबंध के लिए सहमत हों तो फिर वधू-मूल्य ठहराया जाता है, जो क़िस्तों में दिया जाता है। वधू-मूल्य की पहली क़िस्त अदा करने के बाद वर को वधू के साथ यौन-संबंध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। पर जब तक पूरी रक़म चुकायी नहीं जाती, लड़की अपने मायके में ही रहती है। इस बीच यदि उसके बच्चे पैदा हो जायँ तो वे भी माँ के साथ रहते हैं।

विवाह के बाद भी पूर्व प्रेमियों से यौन-संबंध

'कोन्यक' नागा जाति में विवाह के पश्चात जब तक पहला बच्चा न हो जाय, स्त्रियाँ मैके में ही रहती हैं। इस काल में उन्हें विवाह से पूर्व की भाँति ही अपने प्रेमियों से मिलने-जुलने, यहाँ तक कि यौन-संबंध बनाये रखने की भी स्वतंत्रता रहती है। वह पहला बच्चा पति का हो या किसी दूसरे का, इससे पति-पत्नी के आपसी संबंधों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

विवाह से पूर्व लड़का-लड़की इकट्ठे रहते हैं

मणिपुर की पहाड़ियों में बसने वाली 'कूकी' जाति में विवाह से पूर्व लड़के-लड़की को कुछ समय तक इकट्ठे रहने दिया जाता है ताकि दोनों एक दूसरे को भली भाँति समझ सकें, एक-दूसरे के स्वभाव और आदत से परिचित हो सकें। इसके बाद यदि दोनों सहमत होते हैं तो विवाह-सूत्र में बँध जाते हैं। यदि युवक उस युवती से विवाह न करना चाहे तो कुछ हरजाना दे कर अलग हो सकता है। परंतु यदि इस काल में लड़की के गर्भ रह जाय तो उस युवक को उससे विवाह करना ही पड़ता है।

विवाह करो या हरजाना दो

पीलीभीत के उत्तर तथा नैनीताल की तराई में रहने वाली 'थारु' नामक आदि जाति में लड़की का पिता लड़की तथा उससे होने वाली संतान के बदले वधू-मूल्य ले कर लड़की का विवाह करता है, जो संतान न होने की दशा में उसे लौटाना पड़ता है। इन लोगों में स्त्री बिना कोई कारण बताये एक पुरुष को छोड़ कर दूसरे से विवाह कर सकती है। ऐसी दशा में नया पति पुराने पति को वधू-मूल्य देता है। यही कारण है कि जो युवक अपनी आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण वधू-मूल्य नहीं दे पाते, उन्हें विवश हो कर अपने से काफ़ी बड़ी आयु की स्त्रियों से विवाह करना पड़ता है।

इस जाति में यदि कोई थारु स्त्री किसी युवक से प्रेम करती है तो वह अपनी पसंद के प्रेमी के घर में ज़बर्दस्ती घुस कर बैठ जाती है। यहाँ की प्रथा के अनुसार उस दशा में या तो उस युवक को उस स्त्री से विवाह करना पड़ता है अन्यथा हरजाना देना पड़ता है।

दादी की आयु की पत्नी

आस्ट्रेलिया की कुछ जंगली जातियों में जब औरत अधेड़ हो जाती है, तब उसका पति उसे किसी युवक को सौंप देता है और बदले में युवक की युवती बहन से विवाह कर लेता है। कभी-कभी तो इन युवकों की पत्नियों की आयु उनकी दादी की आयु के बराबर हो जाती है, जब कि दूसरी ओर बूढ़ों की पत्नियाँ छोटी-छोटी बालिकाएँ मात्र होती हैं।

जूता फेंकना सामान्य का सूचक

अमरीका में विवाह के बाद जब वर-वधू नये घर में पहुँचते हैं तब वर उसे गोद में उठा कर घर के अंदर ले जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि यह प्रथा उस प्राचीन रोमन प्रथा पर आधारित है, जब रोमन सिपाही सेबाइन जाति के लोगों के घरों में घुस कर उनकी पत्नियों को ज़बर्दस्ती उठा ले जाते थे। आज भी मानो पति अपनी 'हरण' की हुई पत्नी को ज़बर्दस्ती घर के अंदर ले जाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार विवाह की अंगूठी भी उस पुराने युग की स्मृति है। कहते हैं कि अँगूठी उन जंज़ीरों और छल्लों का प्रतीक है जिनमें बाँध कर पति अपनी उस 'हरण' की हुई पत्नी को 'बंदिनी' बना कर रखता था। अंगूठी केवल बायें हाथ की तीसरी अँगुली में पहनाने का कारण यह बताया जाता है कि उस अँगुली में एक 'नस' होती है जो सीधे हृदय तक पहुँचती है और उसके बँध जाने से स्त्री का हृदय बँध जाता है।

इसी प्रकार की एक और पुरानी प्रथा है, विदा के समय माँ-बाप का अपनी बेटी पर जूता फेंकना। आजकल जूता फेंकते समय यह कहा जाता है कि यह सौभाग्य का सूचक है। लेकिन कोई ज़माना था जब इस तरह जूता फेंकने का अर्थ था कि अब उनका अपनी लड़की पर कोई अधिकार नहीं रहा।

यहाँ के लोगों का विश्वास है कि विवाह के समय वधू को हरा रंग नहीं पहनना चाहिए। यदि वह हरा रंग पहनेगी तो उसकी शीघ्र मृत्यु हो जायगी और वह जीवन भर मुसीबतें झेलेगी; क्योंकि हरा रंग परियों का रंग है और यदि वधू उसे पहनती है तो परियाँ नाराज़ हो कर बदला लेती हैं। वधू को मोती पहनने की भी कड़ी मनाही है क्योंकि मोती आँसुओं का प्रतीक है। किंतु उसे अपने मुँह पर नक़ाब अवश्य पहननी चाहिए क्योंकि नक़ाब 'बुरी नज़र' से रक्षा करती है।

लड़का लड़की को भगा ले जाता है

भीलों में लड़की भगाने की प्रथा है। लड़का लड़की को भगा ले जाता है, तब लड़की के माँ-बाप लड़के के घर धरना देते हैं। बाद में मामला समझौते से तय हो जाने पर विवाह होता है।

'हल्दी-पानी' विवाह

कुछ आदिवासियों में तो अगर लड़की अपने मनचाहे युवक के ऊपर हल्दी का पानी डाल दे तो बस शादी संपन्न समझी जाती है। फिर वे दोनों पति-पत्नी की तरह रहने लगते हैं। ऐसे विवाहों को 'हल्दी-पानी' विवाह कहते हैं।

—द्वारा भारतीय ज्ञानपीठ,
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज, दिल्ली-६।

हरीशचन्द्र उप्रेती

भोट प्रदेश में 'रंगबंग-प्रथा'

उत्तराखंड के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश भोट अथवा भूटान प्रदेश के नाम से प्रख्यात है। यह प्रदेश अपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थिति के कारण कूर्मांचल से अलग रह गया है तथा आज भी आवागमन के साधनों के अभाव में अधिकांश मानव-समाज इससे अपरिचित ही है। अस्कोट (काली नदी) से कयकोटा को सीधी रेखा से मिलाने पर रेखा का उत्तरी भाग भोट प्रदेश को बनाता है। भोट प्रदेश की ल्वान बस्ती दुनिया की सबसे ऊँचाई पर बसी मानव-बस्ती है। हिमपात के भय से ये बस्तियाँ इनके मार्गों से हट कर बसी हैं। चीन के आक्रमण से पूर्व इनका मुख्य कार्य तिब्बत से व्यापार करना था। इसके अतिरिक्त पशु-पालन इनका अन्य मुख्य व्यवसाय है। तीव्र सर्दी से बचने के लिए ये लोग नीचे के भागों में उतर आते हैं और जौलजीवी, बागेश्वर तथा थल के मेले में व्यापार भी करते हैं। इस प्रकार से ये लोग खानाबदोशों का सा जीवन व्यतीत करते हैं।

ये लोग क्षत्रिय जाति के तथा हिंदू मतावलंबी हैं। हिंदी और तिब्बत की मिश्रित भाषा बोलते हैं तथा बड़े ही हृष्ट-पुष्ट एवं परिश्रमी हैं। इनमें स्त्रियों को भी सामाजिक समानता प्राप्त है।

इस प्रदेश की घुटुल प्रथा (रंगबंग) जो कि इनके सामाजिक जीवन का मुख्य अंग है, बहुत ही विचित्र एवं आकर्षक है जिसके माध्यम से हमारे संमुख इन लोगों के सामाजिक रीति-

रिवाज़ तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों की रूपरेखा उपस्थित होती है। यह घुटुल प्रथा भारत की आदिम जातियों में ही नहीं अपितु विश्व की कई आदिम जातियों में पायी जाती है। एस० इ० मिल ने अपनी रचना 'दि कम्यूनल बैरेक्स ऑफ़ प्रिमिटिव रेसेज़' में इस तथ्य का समर्थन किया है कि विश्व में भूटान से न्यूज़ीलैंड और मारक्वीस से नाईजर तक यह प्रथा पायी जाती है।

घुटुल प्रथा भोट प्रदेश में 'रंगवंग' के नाम से प्रचलित है। यह अविवाहित स्त्री-पुरुषों का क्रीडा-व्यापार है तथा भारत की अन्य जातियों—जैसे होज, मुंडा, ओरन तथा छोटा नागपुर की अन्य जातियों में विद्यमान है। नागा प्रदेश की कोनयक जातियों में भी इस प्रथा का प्रचलन है यद्यपि इनके रूप भिन्न-भिन्न हैं। कहीं-कहीं लड़के-लड़कियों के लिए पृथक-पृथक तथा कहीं पर संमिलित केंद्रों की व्यवस्था होती है। जहाँ लड़के-लड़कियों के पृथक केंद्र होते हैं वहाँ इस तथ्य का पर्याप्त ध्यान रखा जाता है कि ये केंद्र पर्याप्त दूरी पर स्थित हों तथा लड़के-लड़कियों पर एक दूसरे के घोटुल में जाने पर नियंत्रण रखा जाता है। भोट प्रदेश में लड़के-लड़कियों के लिए संमिलित घोटुल हैं तथा वहाँ पर उनमें पर्याप्त निकट संबंध स्थापित हो पाता है, जिस पर इनके माता-पिता को कोई आपत्ति नहीं होती।

चूंकि भोटिया लोगों का मुख्य व्यवसाय व्यापार है अतः ये लोग अक्सर अकेले अथवा अपने परिवार के साथ भ्रमण करते हैं। प्रायः पुरुष अपने व्यापार में संलग्न रहते हैं तथा स्त्रियाँ गृह-कार्य सम्हालती हैं। घुटुल संस्थाओं की व्यवस्था भी प्रायः स्त्रियाँ, कुँवारी लड़कियाँ या नव-विवाहिताएँ करती हैं। घुटुल संस्थाएँ गाँव के एक छोर पर पायी जाती हैं अतः इनका उद्देश्य-गाँव की रक्षा करने से भी हो सकता है। प्रत्येक गाँव में एक 'रंगवंग' संस्था अवश्य पायी जाती है; वड़े ग्रामों में एक से अधिक भी मिल सकती हैं। दूसरे ग्रामों के लोगों को घुटुल में आने की अनुमति युवतियों की सहमति पर ही मिल सकती है। भारतवर्ष की अन्य जातियों में घुटुल में विवाहित लोगों का प्रवेश निषिद्ध होता है किंतु भोट प्रदेश के घुटुल में विवाहित दंपति भी जाते हैं। रंगवंग-कुड़ी के अंदर मध्य भाग में आग जलायी जाती है तथा उसके चारों तरफ़ लड़के-लड़कियाँ विभिन्न रंगवंग कार्यक्रमों में भाग लेते हुए पर्याप्त रात्रि तक बैठे रहते हैं।

युवतियाँ १५ वर्ष की आयु के पश्चात घुटुल में जाना प्रारंभ करती हैं। जब एक ग्राम की युवतियाँ दूसरे ग्राम के युवकों को आमंत्रित करना चाहती हैं, तब पहाड़ी पर जा कर एक लंवे वस्त्र को दो छोरों से पकड़ कर इस प्रकार हिलाती हैं कि पर्याप्त दूरी तक दृष्टिगोचर हो जायँ; पर्वतीय प्रदेश होने के कारण ऐसा होना संभव भी होता है। मित्रों तथा प्रियजनों की विदाई के अवसर पर भी इस प्रकार कपड़ा हिलाया जाता है जो पर्याप्त सुहावना लगता है तथा आधुनिक सभ्यता में रूमाल हिला कर विदा लेने के फ़ैशन से साम्यता रखता है। निकट ग्राम के लड़के संकेत पा कर सूर्यास्त से पहले एकत्र होना आरंभ कर देते हैं। घुटुल में लड़के-लड़कियाँ कभी कभी संमिलित रूप से तथा कभी-कभी पृथक रूप से सामूहिक लोकगीत व लोकनृत्य आयोजित करते हैं। प्रमुख सामूहिक नृत्यों में उडयाला, चमकुली, धुंशका और घुरुंग चुरूण विशिष्ट एवं प्रसिद्ध हैं। इनके गीतों में पर्वतीय प्रदेश, शांत तथा भयानक देवी-देवताओं की कथा आदि के वर्णन मिलते हैं। यह साहित्य कहीं लिखित रूप में प्राप्त नहीं होता, अपितु मौखिक रूप से ही

सुरक्षित एवं संरक्षित चला आता है। व्यापार के लिए मैदानों में आ कर वहाँ के गीतों को सीख कर ये अपने यहाँ उनका प्रचार करते हैं। इनका प्रमुख वाद्य-यंत्र हुड़का है। इसके अतिरिक्त मुरली, विनयी आदि का भी पर्याप्त प्रयोग किया जाता है। इन स्थानों में युवक-युवतियों में पारस्परिक संपर्क तथा अंततः विवाह-संबंधों की स्थापना होती है।

भोट प्रदेश में नारी को सामाजिक संबंधों में उतनी ही स्वतंत्रता प्राप्त है, जितनी पश्चिमी नारी को। इसका मूल कारण पुरुषों की अनुपस्थिति में संपूर्ण गृह-व्यवस्था को सम्हालना है। घर की आर्थिक व्यवस्था में सुधार के लिए कंबलों तथा पंखियों का निर्माण कर यहाँ की स्त्रियाँ अर्थोपार्जन में सक्रिय सहायता प्रदान करती हैं। इस आर्थिक समानता के कारण ही इन स्त्रियों को समान सामाजिक स्तर प्राप्त हो सका है। परिणामस्वरूप लड़के-लड़कियाँ स्वेच्छा से विवाह करते हैं; माता-पिता इस विषय में उन्हें बाध्य नहीं करते। कभी-कभी उचित जीवन-साथी के न मिलने पर ये लोग पर्याप्त आयु तक अविवाहित भी रह जाते हैं। आधुनिक सभ्यता के आगमन से 'रंगबंग' संस्था का उपयोग कम होता जा रहा है और वैवाहिक विषयों पर माता-पिता का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है तथा लड़की के विवाह के अवसर पर दहेज-प्रथा भी आरंभ हो गयी है। 'रंगबंग' के माध्यम से होने वाले विवाहों में सर्वप्रथम युवक-युवती अपने जीवन-साथी का निर्वाचन करते हैं तथा विवाह का निश्चय कर लेते हैं। विवाह-उत्सव का प्रारंभ युवक युवती के पास कुछ धनराशि भेज कर करता है। यह धन युवक अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार कितना भी भेज सकता है। अधिकांशतया यह धन प्रत्यक्षतः न दे कर युवती की सखियों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में पहुँचाया जाता है। इस अवसर पर माता-पिता की इच्छा जानने का प्रयत्न भी किया जाता है, जो प्रायः उनकी पुत्री के समर्थन में ही होती है। उस धनराशि की स्वीकृति ही विवाह निश्चित हो जाने का संकेत मानी जाती है।

तत्पश्चात विवाह-तिथि के निश्चय का प्रश्न उठता है तथा सोमवार को शुभ कामों के लिए अमंगलकारी दिन माना जाता है। यदि लड़की के माता-पिता विवाह के इच्छुक होते हैं तो लड़का रात्रि में अपने कुछ मित्रों को ले कर 'रंगबंग' में जाता है, जहाँ लड़की अपनी सखियों के साथ होती है और अपनी भावी वधू को बलपूर्वक अपनी बाँहों में उठा कर ले आता है। ऐसा 'राक्षस विवाह' अथवा बलपूर्वक विवाह की परंपरा को निभाने के लिए किया जाता है; यद्यपि युवती पर्याप्त इच्छुक होती है। तत्पश्चात युवक अपने साथियों सहित अपने ग्राम में पहुँचता है, जहाँ गाँव वाले उनका मदिरा से स्वागत करते हैं।

गाँव में पहुँचने के बाद उसका और वधू का गठबंधन किया जाता है तथा उस उत्सव की प्रसन्नता में ये लोग विशिष्ट भोजन ग्रहण करते हैं और मद्यपान भी करते हैं।

इसके बाद विवाहोत्सव का दूसरा चरण आरंभ होता है, जब कि कोने के छोटे-छोटे टुकड़े किये जाते हैं तथा उनका वर और वधू में परस्पर आदान-प्रदान कराया जाता है। यह उत्सव देवताओं, वृद्धजनों व वधू की सखियों के संमुख किया जाता है, जो इस उत्सव को प्रमाणित करने वाली होती हैं। विवाहोत्सव के अंतिम चरण में वर-वधू का गठबंधन पूर्ण रूप से किया जाता है तथा इसे 'पाथम दिन' कहा जाता है। वधू की सखियों का सत्कार अब वर पक्ष वाले उन्हें अपना

निकट संबंधी मान कर करते हैं तथा विदा के अवसर पर विवाहोत्सव के संकेत रूप में छड़न का निर्माण करते हैं जो लंबवासी को ज़मीन में गाड़ कर उस पर रस्सी की सहायता से किताबें, टोपी, शीशा व क़ैंची जैसी विभिन्न वस्तुओं को बाँध कर किया जाता है। यह वर पक्ष वालों के लिए वधू पक्ष वालों की ओर से आमंत्रण का संकेत होता है, जो पर्याप्त संमानपूर्ण माना जाता है।

तत्पश्चात वधू के पिता के पास समझौता करने के लिए तथा विवाह को स्वीकार कर लेने का संदेश ले कर दूत भेजे जाते हैं। पिता प्रायः स्वीकृति प्रदान कर देता है। तब वर वधू की माता के सामने दूध और संपत्ति का उपहार तथा पिता के सामने भी कभी-कभी कुछ संपत्ति का उपहार प्रस्तुत करता है।

कभी-कभी लड़की तथ्यतः बलपूर्वक उठा कर ले जायी जाती है। ऐसी अवस्था में जब तक लड़की उस युवक के साथ भोजन तथा मद्य ग्रहण नहीं कर लेती है, वह उस युवक की विवाहिता नहीं मानी जाती।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भोट प्रदेश के निवासियों में घुटुल प्रथा सामाजिक समानता तथा भ्रातृत्व की भावना पर आधारित है। युवक-युवतियों के पारस्परिक संबंधों को आर्थिक विषमता दूषित नहीं कर पाती।

भोट प्रदेश की स्त्रियों को पुरुषों के समान सामाजिक महत्ता प्रदान की गयी है। इसका मूल कारण भोटिया स्त्रियों का परिश्रमी तथा पति के साथ अर्थोपार्जन में सक्रिय होना है। जीवन-साथी चुनने में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जाती है तथा उनकी सहमति के अभाव में उनका विवाह नहीं किया जा सकता है, जैसा कि अन्य भारतीय युवतियों के साथ होता है।

घुटुल संस्थाएँ इस एकांत पर्वतीय स्थल में मनोरंजन का एकमात्र साधन हैं। आवागमन तथा संचार के साधनों के अभाव में यह स्थान आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से अछूता रह गया है तथा इन संस्थाओं में आ कर युवक-युवतियाँ अपने परिश्रमपूर्ण दिन को भूल कर अपना मनोरंजन कर पाते हैं।

यह संस्था युवक-युवतियों के विवाह-संबंध को स्थापित करने में सक्रिय सहयोग प्रदान करती है। ग्रामों के पारस्परिक संबंध इस संस्था के द्वारा सुदृढ़ बनाये जाते हैं। 'रंगबंग' युवक-युवतियों का मिलन-स्थल तो है ही, साथ ही उनकी विशिष्ट संस्कृति को वंशानुगत रूप से बनाये रखने वाली संरक्षण-संस्था भी है, जिसके माध्यम से उनके सामूहिक लोकगीत व लोक-नृत्य अपना वास्तविक रूप बनाये रखते हैं।

अन्य प्रदेशों के साथ स्थापित संबंधों ने भोट प्रदेश के लोगों के विचारों में परिवर्तन उपस्थित कर दिया है, जिसने घुटुल संस्थाओं के लिए कठिनाई उत्पन्न कर दी है। आर्थिक वैमनस्य असमानता का कारण बन गया है, जिसने घुटुल की आधारशिला समानता पर घातक प्रहार किया है।

लड़के तथा लड़कियों के शीघ्र विवाह ने ही घुटुल संस्थाओं की उपयोगिता कम कर दी है। वधू के बढ़ते हुए मूल्य ने जीवन-साथी के चुनाव में बाधा उत्पन्न कर दी है तथा इस कारण

वैवाहिक विषय पर माता-पिता का अनावश्यक हस्तक्षेप बढ़ने लगा है। निश्चय ही घुटुल अथवा 'रंगबंग' की बढ़ती हुई अनुपयोगिता भोट प्रदेश के लोगों को सांस्कृतिक जीवन में एक विशिष्ट प्रथा के अभाव की सृष्टि कर रही है।

—डी० १०६, बापू नगर, जयपुर।

माध्यम
के लेखकों से विनम्र निवेदन
है कि

- जहाँ तक संभव हो किसी भी रचना में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग न करें।
- हम रचनाओं की अस्वीकृति की सूचना नहीं देते।
- स्वीकृत रचनाओं की सूचना साधारणतया रचना-प्राप्ति के एक पखवारे के भीतर दे देते हैं।
- स्वीकृति-सूचना के बाद प्रकाशन के संबंध में रचनाकार कृपया पत्र-व्यवहार प्रायः न करें, क्योंकि उनकी उदारता के कारण रचनाओं का बाहुल्य रहता है और न चाहते हुए भी उनके प्रकाशन में विलंब अनिवार्य है।
- रचनाओं की वापसी के लिए टिकट-लगा लिफ़ाफ़ा अवश्य भेजें।

जगदीश गुप्त

विवेचना

'रस-सिद्धांत' अथवा 'सिद्ध रस' का अंत

(उत्तरार्द्ध)

साधारणीकरण और कवि की अनुभूति

यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में काव्य की आत्मा की खोज एक मौलिक समस्या के रूप में निरंतर वर्तमान रही है तथापि काव्याचार्यों ने अपनी दृष्टि वस्तु से कभी विमुख नहीं होने दी। वह एक साथ आत्म-केंद्रित और वस्तु-केंद्रित दोनों ही कही जा सकती है। उसका स्वरूप केंद्रीय वृत्त (सर्किल) की तरह न हो कर द्विकेंद्रीय वृत (एलिप्स) जैसा रहा है। काव्य की आत्मा को इसीलिए कवि में न खोज कर शब्दार्थमूलक काव्य में खोजने की चेष्टा की गयी। इससे कवि-पक्ष की उपेक्षा भी हुई जो रस-निष्पत्ति की प्राचीन व्याख्याओं में विशेषतः मिलती है। डॉ० नगेंद्र को इस बात का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि उन्होंने एक ओर अभिनवगुप्त से प्रेरणा पा कर तथा दूसरी ओर आधुनिक कवि-केंद्रित पाश्चात्य काव्य-दृष्टि से शक्ति ग्रहण कर के बलपूर्वक यह स्थापना की कि साधारणीकरण वस्तुतः आलंबन-आश्रय, नट-नटी आदि का न हो कर मात्र कवि की अनुभूति का होता है। इस आधार पर उन्होंने पूर्ववर्ती मतों का सतर्क खंडन किया परंतु स्वयं उसके प्रवाह में एक-दूसरे अतिरेक से ग्रस्त हो गये। वस्तु का आत्यंतिक निषेध, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, किसी प्रकार संगत नहीं कहा जा सकता। डॉ० गुलाब राय भी जिनका गुरुत्व नगेंद्र जी का पथ-प्रदर्शक रहा है, इस विषय में उनका समर्थन नहीं कर सके और उन्होंने अपने सिद्धांत और अध्ययन में लिख दिया कि **डॉ० नगेंद्र ने कवि को एकांत महत्व प्रदान कर के विषय के अस्तित्व को मिटा सा दिया है। आलंबन का विषयगत अस्तित्व बिल्कुल उठाया नहीं जा सकता।** डॉ० मनोहर काले ने इस संबंध में विविध मत देते हुए विशेष विचार

किया है।[1] 'क्रियेशन एंड डिस्कवरी' नामक पुस्तक में उसके लेखक एलीसियो वाइवस ने इधर इलियट आदि नये कवि-चिंतकों के मतों का सारगर्भित परीक्षण किया है। मुझे आश्चर्य है कि डॉ० नगेंद्र ने टी० एस० इलियट के प्रसिद्ध काव्य-सिद्धांत वस्तुगत उपस्थान (आब्जेक्टिव कोरिलेटिव) से साधारणीकरण प्रक्रिया का साम्य क्यों लक्षित नहीं किया। बिंबविषयक लेख में (नयी कविता–७) मैंने और 'काव्यात्मक बिंब' के लेखक अखौरी ब्रजनंदन प्रसाद ने (पृ० २०८, २०९) इस ओर संकेत किया है। इससे भी अनुभूति और वस्तु का संश्लेष प्रमाणित होता है। अखौरी ने डॉ० नगेंद्र के मत को आगे चल कर भ्रम-कुहेलिका में फंसा बताया है। मेरे विचार से रस के प्रसंग में 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' के स्थान पर 'काव्यानुभूति का साधारणीकरण' कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि कवि की अनुभूति क्या है, इसका बोध काव्य से इतर हो नहीं सकता, साथ ही काव्यरूप ग्रहण करने पर कवि की निजी अनुभूति वस्तु-निरपेक्ष रह नहीं जाती, किसी न किसी रूप में वह विषयात्मक हो ही जाती है, चाहे कवि आत्मानुभूति को ही विषय क्यों न बनाये। गुलाब राय जी ने कवि के समानांतर सहृदय के 'त्र्यात्मक व्यक्तित्व' की कल्पना कर के साधारणीकरण की जितनी बुद्धिसंगत व्याख्या की है उतनी 'कवि की अनुभूति' को ही सब कुछ मान कर चलने के कारण नगेंद्र जी नहीं कर सके। स्वयं कवि अपने काव्य का 'रस' कवि हो कर नहीं, सहृदय हो कर ही पा सकता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से भी कवि की अनुभूति को रस-रूप में साधारणीकृत नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन्होंने साधारणीकरण को वैयक्तिक नहीं, सामूहिक क्रिया माना है। इस तथ्य को अभिनव के मत का परिचय देते हुए डॉ० नगेंद्र ने स्वयं प्रस्तुत किया है।[2] काव्य तो केवल मानव-व्यापार से भी संभव हो सकता है, पर साधारणीकरण में रासायनिक विधि से संयोजित विभावन-व्यापार की अनिवार्य आवश्यकता होती है। दृश्य-काव्य में विभाव पक्ष पात्रादि के रूप में अतिरिक्त और स्वतंत्र महत्व रखता है, इसलिए काव्य की अपेक्षा साधारणीकरण की सार्थकता नाटक के क्षेत्र में अधिक संगत दिखायी देती है। काव्य की प्राथमिक आवश्यकता 'प्रेषणीयता' है जो साधारणीकरण से भिन्न वस्तु है। बिना साधारणीकरण घटित हुए भी भावों का यथेष्ट संप्रेषण संभव है, विशेषतः श्रव्य काव्य में, अतः 'भाषा के भावमय प्रयोग' को ही विभावन-व्यापार की संपन्नता के बिना साधारणीकरण का आधार नहीं माना जा सकता। साधारणीकरण को भाषा या काव्यभाषा के धर्म के रूप में व्याख्यायित करना सर्वांश में सत्य नहीं है। भाषा के भावमय प्रयोग द्वारा व्यक्त 'मानव-सुलभ सहानुभूति' का अधिकांश सह-अनुभूति की कोटि में आता है। आगे 'शक्ति और सीमा' में (पृ० ३६०-६१) जो कुछ कहा गया है, उससे भी यही परिणाम निकलता है।[3]

सुंदर और सरस : पर्याय ?

डॉ० नगेंद्र ने सौंदर्य और रमणीयता को ले कर अपनी रसवादी दृष्टि से जो विचार व्यक्त किये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वे सुंदर और सरस को पर्याय समझते हैं।

---

१. आधुनिक हिंदी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० १९५।

२. रस-सिद्धांत, पृ० १९६। ३. काव्यात्मक बिंब, पृ० २१३।

(१) अर्थ की रमणीयता का आधार निश्चय ही भाव होता है। (पृ० ३२५)

(२) अर्थ की रमणीयता भाव-रंजित ही होती है। (पृ० ३२५)

(३) अतः शब्दार्थ और उसके विन्यास की चारुता का आधार वस्तुतः भाव ही है। (पृ० ३२५)

(४) सुंदर और सरस में भेद नहीं किया जा सकता। (पृ० ३५५)

ग्रंथ के आरंभ में सौंदर्य-चेतना को एक मिश्र वृत्ति बताते हुए उसके दो योजक तत्व माने हैं--१. प्रीति अथवा आनंद, २. विस्मय। उनके अनुसार प्रीति का प्राधान्य रसवाद में और विस्मय का अलंकारवाद में हुआ। 'विश्रांति' भी उसका योजक तत्व हो सकती है, इस ओर उन्होंने दृष्टिपात नहीं किया, जब कि भरत ने रस-निष्पत्ति की परिणति इसी विश्रांति में मानी है। 'विश्रांति' और 'आनंद' में इतना भेद है कि शैवकला दृष्टि ने एक स्तर पर विश्रांति उत्पन्न करने वाली कला को कला ही नहीं माना; केवल उसी को परा कला बताया, जो आत्मा को परमानंद में लीन कर दे। डॉ० नगेंद्र ने दोनों धारणाओं को एक में मिला दिया है। (पृ० ८३)

प्रसिद्ध मराठी कवि एवं साहित्य-चिंतक मर्ढेकर ने सौंदर्य का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसके आगे नगेंद्र जी की उपर्युक्त धारणा बहुत सपाट दिखायी देती है, क्योंकि इसमें सौंदर्य-बोध के लिए आवश्यक अंतरंग-व्यवस्था या ढाँचे (स्ट्रक्चर) के बोध की बात ही नहीं उठायी गयी है, साथ ही 'सुंदर' को परिभाषित करने की कठिनाई के प्रति कोई सजगता व्यक्त नहीं की गयी है और न उसकी जटिलता का ही आभास दिया गया है। डॉ० सुरेंद्र बारलिंगे ने 'सौंदर्य-तत्व और काव्य-सिद्धांत' नामक कृति में मराठी चिंतकों के सौंदर्यविषयक विवेचन को प्रस्तुत किया है, जिसमें व्यवस्थापरक तत्वों पर पूरा विचार किया गया है तथा रूप-आकार और गठन के प्रति भी सजगता व्यक्त की गयी है। डॉ० नगेंद्र का कलाओं से घनिष्ठ संपर्क नहीं रहा, इसीलिए वे साहित्य की सीमा में ही सौंदर्य पर विचार कर सके। सौंदर्य के स्वरूप-निर्धारण में (पृ० १७५) अभिनव से बहुत प्रभावित होने के कारण नगेंद्र जी ने साहित्य के 'कृति' रूप की उपेक्षा की है। अभिनव ने शैवाद्वैती होने के कारण सृष्टि को 'कृति' न मान कर 'अभिव्यक्ति' माना है, पर कला और साहित्य 'अभिव्यक्ति' की अपेक्षा रचनाकार के कृतित्व का बोध अधिक कराते हैं, अतः उनकी व्याख्या कृति रूप में करना उचित है। एक 'अल्पना' केवल भावरहित आकार और रूप-रचना हो कर भी सुंदर लगती है, इसी से सिद्ध हो जाता है कि भाव सौंदर्य-बोध के लिए अनिवार्य नहीं है। रस में सत्वोद्रेक द्वारा साधारणीकरण हो जाने के कारण भाव-विभाव-अनुभाव से विनिर्मित ढाँचे की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वह भावावेग में घुल जाता है पर ध्वनि और अलंकार आदि में ढाँचा उभर कर सामने आता है और सर्जन-शक्ति की प्रतीति भी कराता है, इसलिए इनकी स्थिति सौंदर्य-दृष्टि से कुछ भिन्न कही जा सकती है। हर्बर्ट रीड ने कला ही नहीं, कविता में भी रूप (फ़ार्म) को उसकी सौंदर्य-प्रतीति का आधार बताया है।

कालिदास ने सौंदर्य या चारुता का फल 'सौभाग्य' कहा है, जो द्विवेदी जी के अनुसार एक के प्रति अनेक के बहुविध आकर्षण का द्योतक है। रस का परिचय आकर्षण से भिन्न उस

तन्मयता से मिलता है जो खींचने के स्थान पर द्रवित होने और बह जाने का बोध कराती है। 'सरस' से 'सुंदर' को इसलिए भी अलग करना होगा कि इन शब्दों का प्रयोग सर्वथा एक अर्थ में न आज होता है और न पहले होता रहा है।

भरत ने जिन नृत्यों और चित्रों को 'रसभावविवर्जित' कहा है, क्या उनके सौंदर्य में संदेह किया जा सकता है? द्विवेदी जी ने उनको परमार्थतः सुंदर कह कर 'मांगलिकता' का द्योतक बताया है। वे सुंदर में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय देखते हैं, केवल भाव ही नहीं, जैसा नगेंद्र जी ने किया है।

एलीसियो वाइवस की पूर्वोल्लिखित कृति से यह सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया है कि कविता में सारी वस्तु-योजना केवल भाव को व्यक्त करने के लिए नहीं होती—बट आई सी नो रीज़न टु एज्यूम दैट आल इन अ पोयेम इज़ पुट देयर मेयरली टु अराउज़ ऐन इमोशन। (पृ० १८८)

रस-दृष्टि से आधुनिक साहित्य की व्याख्या

शैव-दर्शन ने औपनिषदिक आनंदवाद को आगम-शास्त्र की शक्ति दे कर जिस उदात्त एवं समन्वित रूप में प्रतिष्ठित किया, उसकी प्रेरकता इस बीसवीं शती के यथार्थवादी और वस्तु-वादी युग में भी समाप्त नहीं हुई। यद्यपि शैव मत को दर्शन की कोटि प्रदान कर के भारतीय षड्दर्शनों में कोई स्थान नहीं दिया गया तथापि 'सर्वदर्शन-संग्रह' के अंतर्गत प्रस्तुत पंद्रह दर्शनों में न केवल उसे वरन अभिनवगुप्त द्वारा प्रवर्तित प्रत्यभिज्ञा दर्शन को भी मान्यता दी गयी है। काव्य के क्षेत्र में इस दर्शन से 'प्रसाद' ने प्रेरणा ग्रहण कर के जैसे 'कामायनी' में आनंदवाद को प्रतिष्ठित किया उसी प्रकार 'रस-सिद्धांत' में नगेंद्र जी ने भी रस की आनंदवादी दृष्टि को, अभि-नवगुप्त से वैचारिक शक्ति प्राप्त करते हुए पूरी तरह स्थापित करने का उपक्रम किया है। किंतु 'रस-सिद्धांत' का पारायण कर जाने के बाद भी मैं इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका हूँ कि 'कामायनी' की सही और सच्ची व्याख्या रस को ही आधार मान कर की जा सकती है। मुझे यह भी नहीं लगता कि 'प्रसाद' जी ने रस-निष्पत्ति के लिए 'कामायनी' रची अथवा उसके द्वारा रागतत्व को आस्वाद्य बनाना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। 'प्रसाद' जी का 'रस' शीर्षक छोटा सा निबंध इस बात का साक्षी है कि वे रस के तात्विक स्वरूप को डॉ० नगेंद्र की तुलना में कम गहराई से नहीं समझे थे। 'प्रसाद' के अनुसार **रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्व है।**[1] वैचारिक स्तर पर 'कामायनी' का निर्माण जिस रूप में हुआ है और उसमें जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह राग-तत्व के ऊपर उठा हुआ दिखायी देता है। उससे अलग तो वह कदापि नहीं किया जा सकता। 'प्रसाद' की 'कामायनी' ही क्या, उनके नाटकों तक की सही और संतोषजनक व्याख्या रस-सिद्धांत के आधार पर नहीं की जा सकती। डॉ० नगेंद्र ने उससे भी आगे बढ़ कर शेक्सपियर के नाटकों को भी

---

१. काव्य-कला तथा अन्य निबंध, पृ० ७६।

रस के आधार पर व्याख्यायित करने का जो साहस दिखाया है[१] उसे रस-सिद्धांत को सार्वभौम सिद्ध करने की स्वाभाविक परिणति कहा जा सकता है।

डॉ० नगेंद्रने शुक्ल जी के रसवादी दृष्टिकोण की सीमा को छायावाद के मूल्यांकन में स्वयं पहचाना और छायावाद का पक्ष ग्रहण किया परंतु बाद में उन्होंने शुक्ल जी के आगे पराजय स्वीकार कर ली और छायावाद को ही नहीं, 'अज्ञेय' और 'नयी कविता' तक की रस के आधार पर व्याख्या करने लगे। इसकी क्या उपयुक्तता है, यह प्रस्तुत ग्रंथ में की गयी 'सोनमछली' की व्याख्या से जाना जा सकता है। 'सुमित्रानंदन पंत' नामक पुस्तक में जब रस-रसांग के आधार पर पंत जी के काव्य की व्याख्या करने में उन्हें कठिनाई का अनुभव हुआ, तो उन्होंने पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत उद्धृत किया, जिसमें स्पष्ट कहा गया है—**आजकल सम्यक उद्‌बुद्ध रसों की व्यंजना न हो कर भावों की ही अभिव्यक्ति होती है।** किंतु आगे चल कर डॉ० नगेंद्र ने साहित्य को गौण और साहित्य-सिद्धांत को प्रधान मान लिया। उन्होंने भुला दिया कि सिद्धांत साहित्य और कला की बुद्धिसंगत तात्विक व्याख्या के लिए होता है, बाधक बनने की सीमा तक उसका नियमन करने के लिए नहीं। साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में उन्होंने किसी नये सिद्धांत की उद्‌भावना का मौलिक कार्य संपन्न करने के स्थान पर एक पिष्ट-पेषित सिद्धांत को पुनः व्याख्यायित तथा पुनः प्रतिष्ठित करने का कार्य सम्हाल लिया। इसके लिए भी अभिनवगुप्त ही उत्तरदायी हैं, क्योंकि उन्होंने पूर्व-प्रतिष्ठापित मत की योजना में मूल की प्रतिष्ठा का फल देखा है—**पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनंति।** इस प्रकार व्याख्या-कार्य को मौलिक उद्‌भावना के समकक्ष रख दिया गया है। कुछ भी हो, मेरे विचार से मौलिक उद्‌भावना का मूल्य, विशेषकर आज के युग में व्याख्या से ऊपर माना जायगा। व्याख्या उससे ऊपर तो कदापि नहीं जा सकती।

जिन लोगों ने रस-सिद्धांत के गौरव को पूरी आस्था के साथ स्वीकार किया है, उनके दो वर्ग किये जा सकते हैं। पहला वर्ग उनका है, जिन्होंने रस-सिद्धांत को हिंदू जाति और भारतीय साहित्य-शास्त्र के संदर्भ में महत्वपूर्ण माना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और पंडित बलदेव उपाध्याय इसी वर्ग में आते हैं।[२] उन्होंने रस को भारतवर्ष की जातीय विशेषता के रूप में ग्रहण किया है। मेरी दृष्टि में भी यह मान्यता बहुत दूर तक साधार प्रतीत होती है। दूसरे वर्ग में वे आते हैं, जो रस को समस्त काव्य की, चाहे वह प्राचीन हो या नवीन, व्याख्या के लिए उपयुक्त मानते हैं। डॉ० रामअवध द्विवेदी, डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित तथा अन्य अनेक व्यक्तियों के नाम इस प्रसंग में लिये जा सकते हैं[३] यह कहना कठिन है कि समय की सीमा से रस को ऊपर मानने

---

१. रस-सिद्धांत, पृ० २८४।

२. (i) हिंदू कवि का उद्देश्य रस को व्यक्त करना है, वक्तव्य को अभिव्यक्त करना नहीं।

—ह० प्र० द्विवेदी—कालिदास की लालित्य-योजना, पृ० ४९।

(ii) भारतीय साहित्य-शास्त्र का सर्वस्वभूत सिद्धांत है : एको रसः।

—भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ६४०।

३. (i) रस-सिद्धांत अपने व्यापक रूप में समस्त काव्य को सन्निविष्ट कर लेता है। अतः

के साथ इन्होंने उसे देश की सीमा से भी परे माना है, पर जहाँ तक डॉ० नगेंद्र का प्रश्न है उनके मत में पूर्वोक्त सभी मतों का समावेश हो जाता है, साथ ही वह सार्वकालिक होने के साथ सार्वदेशिक भी मान लिया जाता है——

वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र का पर्यालोचन करते हुए किसी भी प्रबुद्ध आलोचक को अनायास ही स्पष्ट हो जाता है कि उसका मेरुदंड रस-सिद्धांत ही है और उसमें इतनी क्षमता है कि प्रत्येक युग तथा प्रत्येक देश के साहित्य का मार्मिक मूल्यांकन कर सके।[1]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि नगेंद्र जी ने रस-सिद्धांत को हिंदू कवि की ही विशेषता नहीं माना है और न केवल भारतीय साहित्य तक ही सीमित माना है। जैसी विशाल उनकी रस के प्रति आस्था है, वैसा ही विशाल रूप उन्होंने रस-सिद्धांत को दे दिया है। वे इसको रस-सिद्धांत का ही नहीं, वरन संपूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र का दुर्भाग्य मानते हैं कि लोग उसे बिना पढ़े, बिना समझे ही रूढ़ मान लेते हैं।[2] जहाँ तक मुझे दिखायी देता है, रस-सिद्धांत को यथोचित रीति से समझने-सोचने वालों ने भी उसकी अपर्याप्तताओं और सीमाओं की ओर निर्देश किया है; अतएव मैं कहूँगा कि 'दुर्भाग्य' एकतरफ़ा ही नहीं, दुतरफ़ा है। नगेंद्र जी ने विरोधियों को नासमझ और अपढ़ मान कर अपना काम जितना आसान समझ लिया है, उतना वह है नहीं। कुछ समझदार और पढ़े-लिखे लोगों ने भी अपनी वास्तविक कठिनाइयाँ सामने रखी हैं।

पूर्वोक्त मतों के विपरीत या उनसे कुछ भिन्न मान्यता प्रदर्शित करते हुए रसविषयक अनुसंधान करने वाले अनेक विद्वानों ने यह स्पष्ट रूप से बताया है कि सारे काव्य में केवल रसानुभूति ही नहीं होती। डॉ० राकेश गुप्त ने काव्य से छह प्रकार की प्रतिक्रियाएँ (संवेदनात्मक, प्रतिवेदनात्मक, स्मृत्यात्मक, औत्सुक्यात्मक, चिंतनात्मक और आलोचनात्मक——मुंशी अभिनंदन-ग्रंथ, पृ० ३२५) संभव बताते हुए कहा है कि काव्य के लिए रुचिकर होना ही पर्याप्त है, रसमय होना आवश्यक नहीं। अपने रस संबंधी अंग्रेजी शोधग्रंथ में भी उन्होंने यही कहा है कि——

आइ हैव आलवेज़ टाक्ड ओनली ऑफ़ पोयेटिकल इंटरेस्ट एंड नेवर ऑफ़ पोयेटिक प्लेज़र।

(साइकोलॉजिकल स्टडीज़ इन रस, पृष्ठ ३५)

राकेश जी डॉ० रसाल की परंपरा में आते हैं, जो रस से अलंकार को डंके की चोट पर अधिक महत्वपूर्ण मानते रहे हैं। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि विश्वनाथ के सुप्रसिद्ध लक्षण

उसकी परिधि को संकुचित मानना ठीक नहीं।——डा० रा० अ० द्विवेदी——साहित्य-सिद्धांत, पृ० ४३।

(ii) जिस सिद्धांत ने भाव से ले कर भावाभास, रसाभास, रस भावशवलता, भावोदय, भाव-संधि आदि को स्वीकृति दी, उस पर यह दोषारोपण करना कि वह आज की कविता के मूल्यांकन के लिए खोटी कसौटी है, निश्चय ही उचित नहीं है। ——रस-सिद्धांत : स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ४२९।

१. रस-सिद्धांत, पृ० ७४।

२. वही, पृ० ३५५।

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् को पंडितराज जगन्नाथ ने उपयुक्त न समझ कर 'रमणीयता' का आधार ले कर एक नया लक्षण प्रस्तुत किया, जो रस की अपेक्षा अधिक व्यापक और उपयुक्त दिखायी देता है, क्योंकि उसमें रस की भी स्वीकृति निहित है। ग्रंथ का नाम 'रसगंगाधर' ही स्वतः प्रमाण है, परंतु प्रश्न यह है कि उन्होंने रस को स्वीकार करते हुए भी विश्वनाथ के काव्यलक्षण को अनुपयुक्त क्यों माना और उसकी इतनी तीखी आलोचना क्यों की, जब कि व्यवहारतः विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में आनंदवर्धन आदि की तरह रस को ध्वनि का एक भेद मान कर उसे उसके अंतर्गत ही स्वीकार किया है। इस विषय में डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त का शोध-प्रबंध 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' बहुत ही महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। डॉ० नगेंद्र ने अपने ग्रंथ में उसका उपयोग भी नामोल्लेख के साथ किया है। डॉ० प्रेमस्वरूप की धारणा इसीलिए द्रष्टव्य है—

(i) **सर्वत्र काव्य में अनुभूति रसात्मक ही नहीं होती। अनौचित्य की अनुभूति को आभासात्मक कहा गया है। औचित्य की कमी में साधारणीकरण की अपूर्णता स्वाभाविक है। अतः रसाभास और भावाभास काव्यों में तथा अपूर्ण साधारणीकरण के स्थल वाले काव्यों में विगलित वेद्यांतरत्व तथा तन्मयीभाव की दशा न होने के कारण ऐसे स्थलों की अनुभूति का विवेचन रसानुभूति के विवेचन से कुछ पृथक होना चाहिए। उसके साम्य तथा वैषम्य का निरूपण पृथक से करना चाहिए।** (पृ० ३२६)

(ii) **रस का आस्वादन तो मुख्यतया व्यक्त रति आदि भावों में होगा, अमुख्य या आभास रूप भावों में नहीं।** (पृ० ३३३)

डॉ० नगेंद्र ने रसाभास की समस्या को बहुत गहराई के साथ पृथक रीति से सामने रखा है, परंतु मौलिक कठिनाई उससे दूर नहीं हुई। **प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है।** लिख कर उन्होंने औचित्यवादी दृष्टि को पूर्ण मान्यता देते हुए रसाभास के विषय में निष्कर्ष प्रस्तुत किया—**रस की अनुचित प्रवृत्ति का नाम ही रसाभास है।** (पृ० ३०७)

प्रश्न यह उठता है कि औचित्य वस्तु में है अथवा उसके प्रवर्तन में। यदि वस्तु में अनौचित्य है तो क्या उसका निर्धारण भी रस-दृष्टि से हुआ है अथवा किसी अन्य दृष्टि से। यदि अनौचित्य के निर्धारण में आधारगत भेद है अर्थात वस्तु का अनौचित्य दूसरे कारणों से माना गया है और प्रवर्तन के कारण उनसे भिन्न हैं तो फिर सवाल यह रह जाता है कि प्रवर्तन की संगति यथार्थ वस्तु से होनी चाहिए या आदर्श रस से। आधुनिक मत यथार्थ की यथार्थ से संगति खोजता है। किसी आदर्श रूप की कल्पना कर के यथार्थ को असंगत ठहराने को स्वयं असंगति मानता है। यहीं आधुनिक सौंदर्य-बोध मध्यकालीन प्रतिमानों से अलग हो जाता है। नगेंद्र जी ने आदर्श को ही माना है। यथार्थ उनके हाथ से छूट गया है। मैं ऐसे अनेक आलोचकों के नाम ले सकता हूँ, जिन्होंने रस के प्रतिमान को आधुनिक साहित्य के लिए अपर्याप्त माना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि रस-दृष्टि कोई दृष्टि ही नहीं है, वरन यह कि वह एक विशेष दृष्टि मात्र है। डॉ० रामशंकर तिवारी लिखते हैं—

आधुनिक काव्य-दृष्टि रसाश्रयी नहीं रह गयी है, अतः रसवाद को काव्य-निकष के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।...काव्य के मूल्य-मापन के लिए रसवाद को आत्यंतिक

कसौटी के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। (आलोचना, अंक २९, पृ० ३०-३५) **रस-विवेचना और नाटक का आस्वाद** नामक लेख में वीरेंद्रनारायण ने लिखा है—**काव्य-शास्त्री साधारणीकरण जैसे शब्द की आड़ ले कर चाहे जो कहें आज की कलात्मक कृति हमें एक साथ कई स्तरों पर छूती है और किसी एक स्तर की प्रतिक्रिया या उपलब्धि को पूरी प्रतिक्रिया या उपलब्धि का बोधक नहीं माना जा सकता।** (कल्पना, अंक १६६ पृ० २४)

मैं जानता हूँ कि जिनके ये मत हैं वे बहुत प्रसिद्ध और मान्य रस-शास्त्री नहीं हैं परंतु इनको प्रस्तुत कर के मैं केवल इतना ही निर्दिष्ट कर देना चाहता हूँ कि रस को एकमात्र या सर्वोपरि प्रतिमान मानने में जो कठिनाई है, उसका अनुभव व्यापक रीति से किया जा रहा है, विशेषत: आधुनिक साहित्य के संदर्भ में। डॉ० रघुवंश जिन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र, पाश्चात्य मनोविज्ञान और आधुनिक साहित्य तीनों का पर्याप्त गंभीरता से अध्ययन किया है, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—**आज के युग में पुरातन साधारणीकरण की स्थिति बदल गयी है। व्यक्ति और समाज की प्रतिक्रियाओं को व्यापक आधार देना ही साधारणीकरण है। कविता केवल रस की सिद्धि नहीं ढूँढ़ती। वरन मन को संवेदन मात्र का प्रभाव दे कर भी सिद्ध होती है। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी ध्वनि का सिद्धांत सर्वमान्य रहा है।** (हिंदी काव्य की प्रवृत्तियाँ, भूमिका।)

डॉ० मनोहर काले को भी जिनका शोधग्रंथ **आधुनिक हिंदी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन** डॉ० नगेंद्र की ही प्रेरणा से लिखा गया और उनके ग्रंथ का प्रमुख उपजीव्य बना, रस के विषय में ऐसी ही कठिनाई का अनुभव हुआ। उन्होंने तुलनात्मक शोध कर के यह निष्कर्ष निकाला है:

हिंदी-मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने रस-सिद्धांत की विभिन्न दृष्टियों से प्रत्यालोचनाएँ की हैं और इसे आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन का एकांत मानदंड स्वीकार करना अनुपयुक्त ठहराया है। (पृ० २८२)

जब डॉ० नगेंद्र अपने द्वारा प्रेरित शोधक को ही यह नहीं मनवा सके कि साहित्य का एकमात्र सार्वकालिक सार्वभौमिक सिद्धांत रस-सिद्धांत ही है तो सारी दुनिया को मनवाने की बात करना भारी साहस और अटूट आत्मविश्वास का कार्य लगता है।

डॉ० नगेंद्र के समीक्षक व्यक्तित्व के दो विकास-सोपान स्पष्ट दिखायी देते हैं; पहले में वे साहित्य को प्रधानता दे कर उसकी कसौटी पर सिद्धांत को जाँचने-परखने का यत्न करते रहे और जड़ीभूत सिद्धांत से उन्होंने विद्रोह करने का भी साहस किया। उस समय शुक्ल जी का मत उन्हें अग्राह्य लगता था। यथा:

मेरा साहित्यिक संस्कार छायावादी युग में हुआ था, शुक्ल जी सुधार-युग की विभूति थे। उनकी रस-दृष्टि सर्वथा नैतिक और आदर्शवादी थी। मुझे नैतिकता के उस रूप के प्रति कभी श्रद्धा नहीं रही, साथ ही शुक्ल जी उस समय छायावाद और छायावादी कवियों पर कस-कस कर प्रहार कर रहे थे। मेरे मन को बड़ा क्लेश और विक्षोभ होता था पर उनके निष्कर्षों को मानने के लिए मैं बिलकुल तैयार न था। परंतु उनके प्रौढ़ तर्क और अनिवार्य शैली मेरे ऊपर बुरी तरह हावी हो जाते थे। (२१ मार्च के 'दिनमान' से)

पर जब वे विकास के दूसरे सोपान में पहुँचे तो उन्हें लगने लगा कि शुक्ल जी बहुत ठीक ही कहते हैं कि उनकी बातें रस सिद्धांत पर आधारित हैं :

शुक्ल जी के प्रभाव के कारण ही मैं भारतीय काव्य-शास्त्र और रस सिद्धांत की ओर मुड़ा। मेरे सामने नयी दिशाएँ और नये द्वार खुल गये। (डॉ० कमलेश द्वारा 'मैं इनसे मिला' में आकलित)

बाद में अपनी विद्रोह-वृत्ति को तिलांजलि दे कर साहित्य के आधार पर शास्त्र को विकसित करने, परखने और माँजने का मौलिक कार्य एवं उचित मार्ग छोड़ कर उन्होंने 'सिद्धांतं शरणं गच्छामि' ही नहीं 'रस-सिद्धांतं शरणं गच्छामि' के द्वितीय सोपान पर चरणन्यास किया और तब से अब तक साहित्य को एक पूर्वनिर्धारित सिद्धांत विशेष के अनुरूप चलाने का द्राविड़ी प्राणायाम साध रहे हैं। शुक्ल जी ने भी इतनी कट्टरता से रस-सिद्धांत को नहीं अपनाया क्योंकि उन्होंने प्रकृति-काव्य में ही नहीं प्रकृति के प्रत्यक्ष संपर्क में भी साक्षात प्रकृति रस की कल्पना की है। और उसे मुक्त भाव से स्वीकार किया। पर डॉ० नगेंद्र इतना बड़ा ग्रंथ लिखते हुए भी यही कहते हैं कि **स्वतंत्र प्रकृति रस की उद्भावना न आवश्यक है और न संगत** (पृ० २७२) क्योंकि **शास्त्र में साक्षात अनुभव को. . .रस नहीं माना गया।** स्पष्ट है कि शुक्ल जी जीवन से सिद्धांत को देख रहे हैं और नगेंद्र जी सिद्धांत से जीवन को, इसीलिए वे शास्त्र की दुहाई देते हैं। बहस यह नहीं है कि निष्कर्ष किसका ठीक है, वरन यहाँ प्रश्न दृष्टिकोण का है जिसके आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। सही स्थिति मेरे विचार से यही है कि पहले साहित्य फिर सिद्धांत। भारतीय काव्यशास्त्र के गंभीर तत्व-चिंतकों को यह स्थिति सदा मान्य रही है। उन्होंने काव्य को प्रमाण मान कर अपने सिद्धांत में बराबर संशोधन-परिवर्धन किया है और आवश्यकता पड़ने पर सर्वथा नयी उद्भावनाएँ करने में किंचित भी संकोच नहीं किया है। कवियों की निरंकुशता से वे भली भाँति परिचित थे। मेरी दृष्टि में नये साहित्य के मूल्यांकन के लिए नये रसों का नामकरण रूढ़िवादी मनोवृत्ति का परिचायक है, पर उनकी सत्ता का प्रत्याख्यान तो निश्चय ही संकीर्णता का द्योतक है जैसा डॉ० नगेंद्र ने देश-भक्ति आदि के प्रसंग में किया है। एक ओर **सर्वेऽपि रसनाद्रसाः** का आधार दूसरी ओर अमुक रस 'भाव' माना जा सकता है, 'रस' नहीं, एक भारी विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न करता है। जब यथार्थवादी साहित्य को रस के भीतर समेटने का और कोई उपाय नहीं सूझता तो 'जीवन-रस' की शरण में जाना पड़ता है—**'आखिर यथार्थवादी कला में भी तो अपना आकर्षण रहता है, वह भी तो सहृदय के चित्त का अनुरंजन करती है। इस आकर्षण का रहस्य क्या है? अमिश्र जीवन-रस ही न!** (पृ० ३३५) और जीवन रस की यह कल्पना भी नगेंद्र जी को हजारीप्रसाद जी से मिली है—(कालिदास की लालित्य-योजना, पृ० ७) यह भी उनकी अपनी नहीं है।

डॉ० नगेंद्र का निष्कर्ष है कि **साहित्य-सर्जन और साहित्यालोचन दोनों का आधार है साहित्य और साहित्य का आधार है राग-तत्व।** उनकी यह धारणा रस-सिद्धांत के केंद्र में स्थित है और इसी से उन्हें सारी शक्ति मिली है। 'प्रसाद' की स्थिति इससे भिन्न है और वे मानते हैं कि **दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही साहित्य का ध्येय रहा है और है भी। वर्तमान**

साहित्यिक प्रेरणा जिसमें व्यक्ति-वैचित्र्य और यथार्थवाद मुख्य हैं मूल रूप में संशोधनात्मक ही हैं। कहीं व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न कर के समाज का संशोधन है, कहीं समाज की दृष्टि से व्यक्ति का।' (काव्य-कला तथा अन्य निबंध, पृ० ८५)। 'प्रसाद जी' रस में लोक-मंगल की कल्पना को प्रच्छन्न रूप में अंतर्निहित मानते हैं किंतु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर। नगेंद्र जी भी **भावों की संवेदन-शक्ति का आधार मानव-सुलभ सहानुभूति** (री० का० की भू०, पृ० ५२) मानते हैं। किंतु यथार्थवादी साहित्य की व्याख्या करने में वे इस तत्व का निर्देश न कर के जीवन-रस की रहस्यमय बात करने लगते हैं, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। वास्तव में देखना उस तत्व को चाहिए जो रसानुभूति के भी मूल में हैं और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ मुझे डॉ० देवराज द्वारा की गयी आलोचना का स्मरण आता है :

डॉ० नगेंद्र की आलोचनात्मक दृष्टि में हमें जो चीज खटकती है, वह है उनकी एकांत आत्म-निष्ठता। साहित्य का, रागात्मक अंश के अतिरिक्त एक बोधांश भी होता है, उसका बदलते हुए परिवेश से, युग से, शास्त्रीय पदावली में विभाग-तत्व से भी आवश्यक संबंध होता है, जो देश-काल में उसके स्वरूप को निर्धारित करता है—उसे देखने-समझने का उन्होंने प्रयत्न नहीं किया है। (दिनमान, २२ मार्च ६५ के अंक से, पृ० ४४-४५)

'प्रसाद' जी ने आधुनिक युग को सही ढंग से समझा और रस के तत्व को उससे भी अधिक। वे मुख्यतः कवि थे; उनका काम दोनों दृष्टियों के बीच की खाई को पाटना नहीं था, पर डॉ० नगेंद्र से यह आशा की जा सकती थी कि वे केवल 'राग-तत्व' की महत्ता का उद्घोष न कर के 'बोधांश' और उस युग-बोध को भी उचित महत्व देंगे, जिसे प्रसाद जी ने मूल रूप से संशोधनात्मक कहा है। ब्रह्म को आनंद का ही नहीं ज्ञान और सत्य का भी अधिष्ठान कहा गया है। यदि ब्रह्मवादी दृष्टि से ही देखा जाय तो भी साहित्य में केवल रस को महत्व देना एकांगी बात है। सत्य की प्रतीति जिस रूप में होती है, ज्ञान जिस दिशा में ले जाता है, उसको अलग कर के केवल रागबोध को मूल्यांकन का आधार नहीं माना जा सकता। साहित्य के मूल्य जीवन के इतर मूल्यों से सर्वथा पृथक नहीं किये जा सकते। जिस काल में राग की निंदा और विराग की महत्ता का दृष्टिकोण सर्वोपरि था, उस समय के साहित्य को केवल रसदृष्टि से परखना संभव नहीं है, यहाँ तक कि भक्तों के व्यक्तिपरक आत्मनिवेदनों और संतों के नीतिपरक अनुभवसिद्ध साहित्य को भी रस की कसौटी पर कसने से ग़लत परिणाम निकलते हैं, आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन की तो बात ही क्या है। रस जिस मोक्ष के आदर्श पर प्रतिष्ठित है उसको वैष्णव भक्तों ने अपने व्यक्तित्व और भक्तिपरक स्वतंत्र दृष्टि के बल से मध्यकाल में ही अपदस्थ कर दिया था। मोक्ष की निंदा कर के भक्ति का समादर करने में उन्हें भय नहीं लगता था और न यही बोध होता था कि वे भारतीय मत का विरोध कर रहे हैं। 'भेद-भक्ति' की कल्पना में पृथक व्यक्तित्व के महत्व की स्पष्ट स्वीकृति है और मोक्ष का उतना ही स्पष्ट प्रत्याख्यान भी। आज भक्ति भी आदर्श नहीं रही है अतः रसों को मानस में मछलियों जैसा स्थान भी नहीं दिया जा सकता। साहित्यिक मूल्यांकन का अर्थ केवल भाव को समझना नहीं है, वरन कवि के मूल दृष्टिकोण और युगीन पृष्ठभूमि के सद्भाव सौंदर्य-भाव को समझना है जिसमें संश्लिष्टता रहती है।

अनुभूति का मंत्रबल

ये शब्द उन्हीं के हैं और पृ० ३५६ पर देखे जा सकते हैं। डॉ० नगेंद्र को अनुभूति का ऐसा मंत्रबल प्राप्त हो गया है कि वे साहित्य में व्यक्त हर प्रकार की अनुभूति को या यों कहें अनुभूति मात्र को रससिद्ध कर देते हैं। कहीं-कहीं कलात्मक अनुभूति कह कर उसे शब्दशः मर्यादित करने का थोड़ा सा उपक्रम किया गया है, पर मतलब वहाँ भी शुद्ध अनुभूति से ही दिखायी देता है। यदि कहा जाय कि इस मंत्रबल को पाने में उन्हें तीस वर्ष की कठिन साधना करनी पड़ी तो सिद्ध होगा कि उन्हें लगातार रस-दशा में रहना पड़ा। यदि इस उपलब्धि को बुद्ध की तरह किसी आत्म-साक्षात्कार या अंतर्बोध से उत्पन्न माना जाय तो कहना होगा कि उसके बाद उन्होंने साक्षात्कार करना बंद कर दिया है। कला और साहित्य में अनुभूति जितने भी रूपों में व्यक्त होती है, उस सबको रस कहना प्रकारांतर से यह कहना है कि रसानुभूति की कोई निजी विशेषता नहीं है, परंतु पूर्ववर्ती शास्त्रकारों ने स्पष्टतः सत्वोद्रेक और भावन-व्यापार के साथ विभावन-व्यापार के सामंजस्य को रस के लिए अनिवार्य माना है। यदि कोई अनुभूति कलात्मक होते हुए भी चित्त में सत्व का उद्रेक कर के तल्लीन नहीं करती या उसमें विभाव का योग नहीं है तो माना जायगा कि वह रसानुभूति नहीं है। यह कहना कि वह निम्न कोटि की रसानुभूति है, ठीक नहीं, क्योंकि रस एक परिणति है। या तो वह घटित होती है या नहीं होती। रस दशा तक जिसमें नहीं पहुँचा गया है, अथवा जो सहृदय को तन्मय कर देने की शक्ति अपने में नहीं रखती, उस सह-अनुभूति को रस कहना स्पष्टतः अतिव्याप्ति है। मैं चूँकि दोनों प्रकार की कविता से संबद्ध रहा हूँ, अतः अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि रसानुभूति और सहानुभूति को केवल इसलिए एक सिद्ध नहीं किया जा सकता कि दोनों ही साहित्यिक अनुभूतियाँ हैं। यदि इतना भी विवेक नहीं किया जा सकता तो सिद्धांत किस काम का? रस-सिद्धांत की स्वीकृति का अर्थ होता है अनुभूति की विशेषता एवं अंतर को उपेक्षित करना तथा उसे हीन एवं द्वितीय-तृतीय कोटि की स्वीकार करना, जब कि आज के वैज्ञानिक युग में अंतर उपेक्षणीय न हो कर अन्वेषणीय माने जाते हैं; साथ ही अब नये मानव-मूल्यों का विकास भी हो रहा है, अन्वेषक को जिनसे नयी दिशा में जाने और नये सिद्धांतों का आविष्कार करने की प्रेरणा मिलती है। **तन्मयत्वं रसेण** कह कर कालिदास ने स्पष्टतः रसानुभूति की सबसे बड़ी विशेषता की ओर इंगित कर दिया। मेरे विचार से यह तन्मयता, सत्वोद्रेक और विभावन एवं भावन दोनों व्यापारों को मिला कर रसानुभूति की विशिष्टता निर्धारित हो जाती है। उससे भिन्न अनुभूति को आज रस कहना उचित नहीं है। अन्यथा इसे सैद्धांतिक साम्राज्यवाद की संज्ञा देनी होगी या उस ब्राह्मणवाद की जिसने अपनी वर्ण-व्यवस्था में सबको स्वीकृत किया परंतु उत्तरोत्तर हीन समझ कर। रस-सिद्धांत साहित्यिक वर्ण-व्यवस्था से कम नहीं है, उसमें रस को जो गौरव प्राप्त है रसाभास को वह कदापि नहीं मिल सकता। क्योंकि प्रतिमान रस है।

रस-चक्र, रस का घेरा और रस की परिधि ही नहीं रस-पाश और रस का बंधन भी

कुरुक्षेत्र में इस आधुनिक साहित्य की समस्या पर आयोजित गोष्ठी में डॉ०

नगेंद्र ने मुझ पर यह आक्षेप लगाया था कि मैंने 'रस-पाश' और 'रस-चक्र' को संदर्भ से अलग कर के लेखक के प्रति अन्याय किया है। यहाँ देखा जा सकता है कि क्या सचमुच ही उनका संदर्भ कोई ऐसा है जिसमें रस-पाश और चक्र न हो कर कुछ और सिद्ध होता है—अथवा उसका कोई ऐसा अर्थ लिया जा सकता है जो परिसीमन के विरुद्ध हो।

१. प्रस्तुत सिद्धांत को यथावत स्वीकार कर लेने पर रस का क्षेत्र सीमित हो जाता है—मानवात्मा की वह दिव्य कांति **रस के घेरे में** नहीं आती। (पृ० २०८) २. पर **रस-चक्र** में उसके लिए भी स्थान है। (पृ० ३४८) ३. इस प्रकार **रस के बंधन** से मुक्त होने के लिए नयी कविता के प्राय: समस्त प्रयास विफल हो जाते हैं। (पृ० ३४९) ४. रसाभास का **रस की परिधि** में अंतर्भाव इस बात का सूचक है कि नैतिक मूल्यों के द्वारा पुष्ट होने पर भी रस-सिद्धांत उनसे परिबद्ध नहीं है। (पृ० ३२०) ५. ऐसी उक्ति भी. . .अनुभूति के मंत्रबल से **रस-चक्र** में अनायास ही प्रविष्ट हो जाती है। (पृ० ३५६) ६. रस के पाश से वह यह कह कर भी नहीं निकल सकती कि हमारी अनुभूति शुद्ध मानव-अनुभूति है, आनंदानुभूति नहीं है, क्योंकि प्रत्येक सच्ची अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति या **प्रत्येक कलात्मक अनुभूति** तीव्र से तीव्र छंद की कलात्मक अनुभूति भी—समंजित अर्थात अद्वंद्वमयी ही हो सकती है। (पृ० ३४७)

जब चक्र, परिधि और घेरे जैसे ज्यामितिक रूप-बोध के लिए पाश और बंधन शब्द प्रयुक्त किये जायें तो इससे क्या यह सिद्ध होता है कि लेखक तर्कजाल में किसी को बाँधने का प्रयास न कर के केवल रस-परिकर का बोध करा रहा है? डॉ० सावित्री सिनहा ने अपने अध्यक्षीय भाषण में तथा अन्यत्र भी इसे **रस की जकड़बंदी** कह कर सारी स्थिति स्पष्ट कर दी है। 'जकड़बंदी' शब्द से किसी ऐसे प्रत्यय का बोध नहीं होता जिसमें सीमा का द्योतन ही न हो अथवा जिससे आंतरिक व्यवस्था के असह्य होने का बोध न होता हो।

रस की यदि कोई परिधि है और वह दिखायी भी देती है तो यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से किया जा सकता है कि उसका केंद्र कहाँ है और उसका व्यास कितना है। आप उसकी परिधि को देखते भी रहें और व्यास को अनंत भी घोषित करते रहें, यह कार्य एक साथ संभव नहीं है। यदि आप रस की कोई सीमा वास्तव में मानते हैं, तो हर विरोधी मत को अपदस्थ करते समय उसके व्यापकत्व का ही तर्क क्यों रखा गया है? सिद्धांत की शक्ति विरोध-पक्ष को 'दुराग्रह' और 'अल्पबोध' कहने से सिद्ध नहीं होती। दूसरों में भी वस्तु-बोध और सत्य के आग्रह की संभावना मान कर होती है। अंतिम अध्याय 'शक्ति और सीमा' में डॉ० नगेंद्र ने रस के हर विरोध को दुराग्रह या अल्पबोध कहा है। (पृ० ३५७)

अंत के कुछ पृष्ठ छोड़ कर सारे ग्रंथ में लेखक ने सभी मतों की शक्ति और सीमा स्वयं निर्धारित की है परंतु **रस-सिद्धांत के विरुद्ध आक्षेप और उनका समाधान** शीर्षक से जो कुछ कहा गया है, उससे यही लगता है कि शक्ति-शक्ति लेखक दिखा रहा है और सीमा-सीमा अन्य लोग।

विरोधी मतों में निहित सार वस्तु को लक्षित न करने की बात छोड़ दी जाय, तो इस 'रस-सिद्धांत' ग्रंथ की महत्ता इस बात में मानी ही जानी चाहिए कि एक बहुज्ञ,

अधीत, कुशल एवं अनुभवी आलोचक ने जहाँ तक उसके द्वारा संभव था, रसविषयक समस्त परंपरागत शास्त्रीय ज्ञान और विवेचन को पर्याप्त व्यवस्थित ढंग से विषयोपयुक्त सुसंगठित और समर्थ भाषा में विभिन्न विचारकों की प्रायः सभी महत्वपूर्ण स्थापनाओं की शक्ति और सीमा प्रदर्शित करते हुए अपनी धारणा को अधिक से अधिक वस्तुपरक बना कर व्यक्त करने का गंभीर प्रयास किया है; साथ ही उसमें तत्संबंधी नवीन अनुसंधान और चिंतन को अखिल भारतीय स्तर पर प्रस्तुत करते हुए अंग्रेज़ी के माध्यम से उपलब्ध पाश्चात्य साहित्य-चिंतन को भी समाविष्ट करने की सम्यक चेष्टा की है। इस कठिन कार्य को अनवरत श्रम के साथ संपन्न करने में उसकी निजी दृष्टि तिरोहित नहीं हुई है।

किंतु इ का अर्थ यह कदापि नहीं है कि रसविषयक विविध प्रकार के वैमत्य का इसके द्वारा पूरा निराकरण कर दिया गया है या कि रस संबंधी सारा ज्ञान इसमें समाविष्ट हो गया है और अब साहित्य-चिंतकों के लिए, चाहे वे भारत के हों या बाहर के, उसे स्वीकार भर करना शेष रह गया है।

—मोतीमहल, दारागंज, इलाहाबाद।

'विवेचना' में 'रस-सिद्धांत'

'विवेचना' की १९वीं गोष्ठी डॉ० आत्माराम शाह के निवास-स्थान ४, टैगोर नगर, इलाहाबाद में दिनांक ७ नवंबर को सायंकाल ५॥ बजे हुई।

प्रवर्तक डॉ० जगदीश गुप्त के लेख-पाठ के बाद अध्यक्ष बालकृष्ण राव ने सामान्य विचार-विनिमय के पहले प्रश्न पूछने और शंकाओं का समाधान माँगने के लिए सभा को अवसर देना उचित समझा।

अध्यक्ष ने प्रवर्तक से 'विज्ञानवाद' का अंश एक बार पुनः पढ़ने के लिए कहते हुए तद्विषयक जिज्ञासा व्यक्त की। प्रवर्तक ने बताया कि बौद्ध विचारकों का प्रभाव भी रस-सिद्धांत पर पड़ा। **विज्ञानवादावलंबनार्थ** कह कर शंकुक या रसवादियों ने बौद्ध दर्शन को छोड़ा नहीं। संक्षेप में ज्ञान से ही सभी कुछ नियोजित है, ऐसा विज्ञानवादियों का अभिमत है।

पुनः अध्यक्ष ने 'सौभाग्य' और 'चारुता' की नयी व्याख्या के विषय में जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से **सौभाग्यफला हि चारुता** के अंतर्गत 'सौभाग्य' के सीधे अर्थ पर बल दिया। प्रवर्तक ने डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का हवाला देते हुए बताया कि संस्कृत में 'श्रवण-सुभग' एक शब्द है जिसका अर्थ है 'सुनने का आकर्षण'। इसी प्रकार 'चारुता का फल सौभाग्य है' में 'सौभाग्य' का अर्थ हुआ 'आकर्षण'।

शंका-समाधान के बाद विजयदेवनारायण साही ने कहा: कभी परिश्रम से मैंने मूल पुस्तक पढ़ी थी और लगभग उतने ही परिश्रम से आज समीक्षा भी सुनी। रस-सिद्धांत पर बहस इधर रह-रह कर उठती रही है। अधिकांशतः आज के लेखकों और आलोचकों की धारणा या आदत पड़ती जा रही है कि रस-सिद्धांत पर बहस बंद हो जानी चाहिए और लगभग प्रच्छन्न रूप से सब सहमत होते जा रहे हैं कि अब फ़ायदा नहीं निकलेगा। 'रस' कहने से जो सहसा साहित्यिक रुचि की प्रतीति होती है, उससे मैं निश्चय ही अपने मत को भिन्न पाता हूँ। लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए इस शास्त्र से उलझना आवश्यक है। प्रच्छन्नतः यह मान्यता विद्यमान है कि आज का लेखक या विचारक आधुनिक साहित्य पर ही विचार करेगा, प्राचीन पर नहीं। यदि प्राचीन के लिए रस-सिद्धांत जरूरी है तो फलतः दो रुचियाँ सामने आती हैं। यानी जब कालिदास को पढ़ें तो रस-सिद्धांत लागू करें और लक्ष्मीकांत वर्मा को पढ़ें, तो आज की रुचि लागू करें। यह अवसरवादिता साहित्यिक रुचि से बहिष्कृत करना बहुत जरूरी है।

जब मैं कालिदास या तुलसी या रीतिकाल को पढ़ता हूँ, तो मेरे मन में जो जागता है,

क्या वह रस है? निश्चय ही वह रस नहीं है। तो क्या मेरी सहृदयता में कमी है? जो मैंने पढ़ा है, उससे मेरी सहृदयता विस्तृत भी हुई है या नहीं? कालिदास को रस कहाँ तक व्याख्यायित करता है। शायद नहीं करता। मैं इसीलिए रस को नहीं मान पाता। गेटे की विमोरावस्था क्या रस की प्रतीति है? गेटे वस्तुतः 'शकुंतला' के अलौकिक चरित्र पर मुग्ध है। रसार्द्रता, हो सकता है, उसमें नहीं हुई। बल्कि विभाव में पर्यवसान हो गया। यह दृष्टि आस्वादन में यदि बाधक नहीं है तो जिस प्रकार समस्त भावों, अनुभावों को रस में लिया जा सकता है, उसी प्रकार ठीक उसके विपरीत क्यों नहीं हो सकता?

जितना विशद ऊहापोह कालिदास कौन थे, कहाँ के थे, आदि पर इधर हुआ, क्या यह सिर्फ़ भटकन है? यह दृष्टि-परिवर्तन क्यों हुआ? संस्कृत के विद्वान (स्वयं अभिनवगुप्त भी) रस-प्रेमी ही होते तो रस-सिद्धांत से इतर दृष्टियाँ कैसे आतीं? इसका उत्तर डॉ० नगेंद्र की पुस्तक में नहीं मिलता।

साहित्य मूलतः निरंतर विकसित करने का एक प्रयास है। इसके प्रति हम सजग हैं कि हम मृत तो नहीं होते जा रहे हैं, हम जीवित रह सकते हैं या बने रह सकते हैं या नहीं। अक्सर सुनायी पड़ता है, यह विधा मर चुकी; यह विधा नयी है। यह 'जीवन-रस' नहीं है क्योंकि वह आस्वादन मात्र है। यह दृष्टि दार्शनिक है। केवल भावना की दृष्टि से नहीं, अनुभूति की शक्यता की दृष्टि से। आलोचक या कवि इसी कर्म को 'मृत्यु की निरंतर प्रक्रिया' तथा 'जीवन की सतत प्रक्रिया' कहता है। क्षेमेंद्र ने 'औचित्य' पर बल दिया है। अनौचित्य की सीमा में आज वही प्रवेश नहीं कर सकते। जगदीश जी ने जो कुछ कहा है, यदि मैं समझ सकता हूँ, तो इससे भिन्न नहीं है। क्या जीवित हो रहा है, क्या मर रहा है, आज की शब्दावली में कहें, और जो उचित भी है, तो उसे 'सर्जनशीलता' कहेंगे।

प्राचीन साहित्य की ओर जब हम लौटते हैं तो उसमें दो पीठिकाएँ मिलती हैं। एक कसती चलती है; दूसरी मुक्त रखती है, क्योंकि वह उदार है।

अतीत को निरंतर सर्जनशील मान कर बराबर नये तत्व विकसित किये जा सकते हैं। सर्जनशीलता इससे बराबर जीवंत रहेगी। प्रक्रिया के रूप में इससे इतिहास लिखा जा सकता है। क्योंकि इस प्रकार वर्धनशीलता सिद्ध होती है। इससे हम निश्चय ही रस-सिद्धांत को ऐसी स्थिति में बड़ा सिद्धांत कह सकते हैं।

लेकिन मेरी मौलिक आपत्ति यही है कि एक सिद्धांत अधिक उदार है, मुक्त है और उसकी आंतरिक प्रवृत्ति को, धड़कन को, रस कहीं मूलतः खंडित कर देता है।

यह धारणा अपने में ठीक है कि अपने यहाँ भी बहुत कुछ है, केवल मैथ्यू आर्नल्ड या औरों में नहीं है। हमारे यहाँ जो है वही अच्छा है, यह कम दासवृत्ति नहीं है। रस-सिद्धांतवादियों ने केवल संप्रदाय दिया, इसलिए कि कहीं अतीत के प्रति अरुचि न पैदा हो। लेकिन डॉ० नगेंद्र जैसे लोग अतीत का मुख छोटा कर रहे हैं। ध्वनि-सिद्धांत ज्यादा मुक्त है। यह कविता रसीली है, रसाग्रही है तो हम क्या करें? वह है।—स्वयं डॉ० नगेंद्र भी गौण प्रश्नों को छोड़ कर मूल

पर आने की ओर आकृष्ट हैं। तो उससे आगे जाइए; रस के आग्रह से आगे जाइए; कविता के ढाँचे की ओर जाइए; फिर और आगे जाइए, तो आपको काव्य के अंतर में, संगठन में मिलेगा वही इलियट का 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव'। इस प्रकार रस एक प्रकार की संप्रदायात्मक प्रवृत्ति है।

डॉ० नगेंद्र ने दार्शनिक आपत्तियों का उत्तर नहीं दिया है। विभावों का पर्यवसान भाव में और क्रमशः इसी प्रकार सब। यानी रस आनंद की निर्बाध प्रतीति है। यदि यह आनंद की प्रतीति है, तो एक पुराना प्रश्न लें, करुण रस में आनंद की प्रतीति कैसे? लौकिक न्याय से दुख से दुख की प्रतीति न हो कर आनंद की प्रतीति कैसे? होता यह है कि हम कला की प्रशंसा करने लगते हैं, जो शायद आनंद नहीं है और यदि समस्त रसों की प्रतीति आनंद है, तो नवरस क्यों? इस प्रकार तो नौ भाई हुए; नौ ब्रह्मानंदसहोदर हुए! यह आनंद की एक ही कोटि है या अलग-अलग? रसराज का प्रश्न पहले भी था। इसीलिए। शैव्या, हरिश्चंद्र और शकुंतला, कण्व और दुष्यंत के दृश्यों में कौन प्रधान है या क्या प्रभाव अलग-अलग नहीं हैं? यह प्रभाव एक ही प्रकार का है? हास्य-नाटक और त्रासदी दोनों के प्रभाव एक जैसे हैं या अलग? निश्चय ही ये एक प्रकार के आनंद नहीं हैं। अतः रस का ढाँचा टूट जाता है।

जब भावों का पर्यवसान हमने रस में देखा तो रस की आनंद-वृत्ति किसी महानंद रस में पर्यवसित होगी। तब रस की परिभाषा बदलती जायगी। तब वह होगी 'एस्थेटिक एक्सपीरियंस' या सर्जनशीलता, जीवंतता। ब्रह्म को मानने की ज़रूरत नहीं, लौकिक ही रखें, तव कवि की निरंकुशता प्रमाण होगी। तब रस-सिद्धांत छोटा पड़ेगा। केवल ढाँचे के कारण दृष्टि बदल जाती है। यह बात विभिन्न बलाबल के साथ अरस्तू और नये कवि में भी मिल जायगी।

पन्नालाल 'अज्ञान' ने 'विवेचना' के विचार-विनिमय की परंपरा का उल्लेख करते हुए बताया कि साही जी ने अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने न समीक्षा को देखते हुए विचार प्रस्तुत किये हैं, न कृति या कृतिकार को देखते हुए। साही जी ने उत्तर देते हुए कहा कि केवल कुछ ही पंक्तियाँ जोड़ने मात्र से उस परंपरा की रक्षा हो सकती थी, लेकिन इसका यह रूप पहले भी रहा है, और मुझे यह ज़रूरी भी लगा था। पाठक जी ने इसका समर्थन किया।

प्रभात शास्त्री ने कहा कि मैंने नगेंद्र जी की पुस्तक नहीं पढ़ी है क्योंकि मैं जानता था कि उन्होंने संस्कृत ग्रंथों को ही आधार बनाया होगा, जिन्हें मैंने विधिवत पढ़ा है। डॉ० जगदीश गुप्त तथा साही जी ने भ्रामक बातें कही हैं। कई संप्रदाय थे, जो रस से भिन्न भी देखते थे। यह कोई नयी बात नहीं, शब्द-चित्र, अर्थ-चित्र आदि की ओर भी काव्य के परकोटे देखे जा सकते हैं। आंध्र प्रदेश में चमत्कार-संप्रदाय था। उसका ग्रंथ अनुपलब्ध है। लेकिन रस-संप्रदाय की मलामत उसमें है। रस-संप्रदाय और ध्वनि-संप्रदाय भिन्न नहीं हैं। जहाँ पर रस है, वहाँ पर ध्वनि है, यह निर्विवाद है। इसी प्रकार जहाँ ध्वनि है, वहाँ रस है। रस का शिष्ट, सुसंस्कृत रूप ध्वनि है। जगदीश जी ने शंकुक के साथ बौद्ध दर्शन को जोड़ दिया जब कि इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि शंकुक का ग्रंथ नहीं मिलता, केवल रस-सूत्र की व्याख्याओं के

संदर्भ में उनके कुछ वाक्य मिल जाते हैं। जब तक उनका ग्रंथ नहीं मिलता तब तक केवल 'अभिनवभारती' के बल पर कैसे ऐसा कह सकते हैं? बौद्ध दर्शन को न्याय दर्शन से जोड़ना भी ठीक नहीं है। नवरस-विभाजन मनोवृत्तियों को व्यक्त करता है। इसीलिए एक रस नहीं माना गया। कह सकते हैं, कपड़ा एक ही बने, कई प्रकार का क्यों बने! यह कोई तर्क नहीं है। वासना नामक तत्व होने पर ही आनंद की अनुभूति होती है, बिना उसके नहीं।

उमाशंकर शुक्ल ने कहा : जगदीश जी ने बारीकियों में जाने की कोशिश की, छान-बीन की। अस्ल में जो भी कहें, यह जो सारी समस्या है, वह शायद आलोच्य विषय की कठिनाई के कारण है। जैसे मनुष्य को समझना बड़ा कठिन है, वैसे ही उसकी धारणाओं और उसके सिद्धांतों को भी समझना बड़ा दुष्कर है, क्योंकि यह सब पसारा उसी के कारण तो है। मुझे वही पुरानी हाथी वाली कहानी याद आती है : जिसने जैसा देखा, बताया। काव्य के संबंध में जिज्ञासा कैसे विकसित होती गयी, काव्य-शास्त्र का इतिहास इसी जिज्ञासा का परिणाम है। मैं प्रभात जी की बात को भिन्न ढंग से कहूँगा। रस की व्याप्ति या सीमा के बारे में कठिनाई हमारी तरह प्राचीनों को भी हुई थी। सापेक्षिक दृष्टि से आज और यहाँ सबमें मूलतः तर्क अच्छा है। साही जी का जो आग्रह है, प्राचीन काव्य-शास्त्र के इतिहास को देखें, तो वह बात मिलेगी। अतीत घरौंदे में बंद नहीं है। रस का जादू इसीलिए है कि उसने मानवीय मनोरागों को पकड़ा और समझने की कोशिश की। प्राचीनों ने नाम को महत्व नहीं दिया।

आज एक दूसरी कठिनाई है। प्राचीन सिद्धांतों की त्रुटियाँ तो आ गयी हैं, लेकिन आज की दृष्टि बिखरी हुई है व्यवस्थित नहीं है। जगदीश जी ने बोध-तत्व पर बल दिया, ध्वनि की चर्चा करते हुए वस्तु-व्यंग्य की चर्चा की। प्रतीयमान अर्थ के प्रति लाचारी, लावण्य की तरह है, कह के आचार्य ने बता दी। और फिर कहा : अन्यदेव। तो जितना मनुष्य विशाल है, उतनी ही दृष्टि विशाल है, क्योंकि दृष्टि आखिर उसकी ही है। दृष्टि विकसनशील होनी चाहिए। नगेंद्र की पुस्तक में इसीलिए सार्थकता है कि रस के विषय में सारा ज्ञातव्य आ गया है।

अब जगदीश जी ने शोध की समस्या ही उठा दी। वात्स्यायन के कामसूत्र की तिथि क्या है, समस्या है। ऐसा भरत के नाट्यशास्त्र और 'ध्वन्यालोक' के साथ भी है। सुशीलकुमार डे को तो तिथियाँ भी लिखनी पड़ीं। इसके लिए उन्होंने बड़ी समझदारी की कि उसे मूल विषय से अलग रखा। लेकिन दृढ़ता से जब कहा जाता है, तो यह समस्या तो उठती है। नगेंद्र की पुस्तक रस के दावे की दृष्टि से अवश्य पठनीय है।

डॉ० रघुवंश ने कहा : मैंने रस पर लिखा है और मैं इसी आधार पर जानता हूँ कि इन सिद्धांतों में व्याप्ति भी है। जैसा साही जी ने कहा, रस को हम 'एस्थेटिक एक्सपीरियंस' के रूप में ले सकते हैं। मैंने ऐसा लिखा भी है। सबसे पहले प्रश्न यह है कि साहित्य अपने युग की सापेक्षता में है। उसकी अपनी विशिष्टता है। लेकिन साहित्य के दो तत्व हैं : विशिष्टता और सार्वभौमित्व। चिंतन का विषय सार्वभौम रहा है। क्योंकि साहित्य में वह अतिरिक्त है। हर युग के साहित्य की विशिष्टता के कारण उसकी दृष्टि एक होती है।

एक न होने पर कई हो सकती है। युगविशेष की रचना के संदर्भ में हम पुनर्रचना करते हैं। शाकुंतल या किसी भी कृति का अनुभावन हमारा अपना होता है। यही प्रश्न मूल है।

वैशिष्ट्य का सहायक साहित्य का व्यापक तत्व होता है। तो क्या हम रस-सिद्धांत का पुनरन्वेषण करें ?——इसे हम यों समझ सकते हैं कि एक तो उस युग की विशिष्टता के प्रतिपादन की क्षमता, जो सिद्धांत होता है, उसमें भी सार्वभौम तत्व रहता है। और पांडित्य दिखाना है, जैसे पुराने आचार्यों ने दिखाया, वह आसान है अतः व्यर्थ है। मैं पहले अलंकार पर ही मुग्ध था, जब पढ़ता था, और सोचता था पांडित्य के पराक्रम से अलंकार के माध्यम से ही सब कुछ दिखा सकता हूँ। लेकिन अब लगता है, असली बात ही असली है, पांडित्य का कोई मतलब नहीं होता। अपनी विशिष्टता की सिद्धि के लिए वह रस अब सार्थक नहीं है। पुनरन्वेषण का अर्थ फिर क्या हुआ—पुराने मूल्य को नये मूल्य में रूपायित करना मात्र। यानी पांडित्य को चुनौती पांडित्य से ही दी जा सकती है।

वस्तुतः एक अंतर है। एक अंतर तो यह है कि काव्य की प्रक्रिया के अंदर से सिद्धांत को देखना। जैसे शुक्ल जी ने भक्ति और रीतिकाल को देखा। शुक्ल जी के रस-सिद्धांत को तार्किक कसौटी के बल पर भले काट दिया जाय, उसमें पर्याप्त मौलिकता और सर्जनशीलता है—काव्य-दृष्टि के अनुभव के कारण। इससे शास्त्र के शब्द का एक अर्थ करना पड़ेगा। इन शब्दों—रस, सर्जन आदि—के माध्यम से व्यापक रूप देखने पर सब संभव होगा। लेकिन विशिष्टता के कारण संदर्भों के कारण कठिनाई पड़ेगी। क्योंकि अंतर बहुमूल्य है। इसलिए आलोचक कर्म की दृष्टि से व्यापकता के बल पर समेट सकते हैं, कालिदास से ले कर आज तक को समेट सकते हैं।

वास्तव में रस का मूलाधार है भाव ही। लेकिन सौंदर्य-बोध, अनुभूति आदि को जोड़ें (सौंदर्य के भी कई स्कूल हैं) तो उन्हें समझना होगा; अर्थों के अंतरों को समझना होगा।

अब मौलिक अंतर आ गया है। हम संपूर्ण सर्जनशीलता को महत्व देते हैं। और पुनः सर्जन के द्वारा पाठक तक पहुँचाते हैं। विज्ञान ने सारा अनुभव बदल दिया है। इसलिए रस के भाव मात्र से काम नहीं चलेगा। अनुभव—-भावपरक—-फिर नहीं होगा। अनुभव-बोध=सर्जनशीलता, संपूर्ण सर्जनशीलता। तब भाव से अनुभव की ओर आना ही होगा, जिसे हम उपलब्ध करना, संपन्न होना कहते हैं, सौंदर्य-बोध भी नहीं कहते, बल्कि व्यक्तित्व की संपन्नता कहते हैं।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के विचार से 'रस-सिद्धांत' गठन और विवेचन की दृष्टि से अच्छा प्रस्तुतीकरण है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सामने रस को रख कर एक नयी क्षमता प्रमाणित की गयी है। टकराहट से यह शक्ति-संपन्न होती है। रस का इस प्रकार एक नये ढंग का आस्वादन होता है। पर इस सारी सामग्री का उपयोग किस दिशा में है ? वह ले कहाँ जाती हैं ? आग्रह—शास्त्र का आग्रह—जो किसी भी शास्त्र के लिए लागू है। हम पाते हैं कि शास्त्र और साहित्य दोनों भिन्न प्रकार के सर्जन हैं। कालिदास और शंकराचार्य एक जैसे व्यक्तित्व नहीं हैं। साहित्य सबसे अधिक क्षमतावान सर्जन है। इसीलिए वह विकसनशील है; उसमें अर्थ की छायाएँ विकसित की जा सकती हैं। विकसित होती हैं। मानस और हैमलेट इसके प्रमाण

हैं। शास्त्र भले ही सर्जनशील हो, उसकी सर्जनशीलता एक सीमा तक ही है; उसके बाद उसकी क्षमता समाप्त हो जाती है। कठिनाई यही है। रचना को शास्त्र से, कालिदास को शंकराचार्य से तौलें, यह कठिनाई है। रिचर्ड्स, इलियट आदि के साथ भी यही कठिनाई है। सर्जनात्मकता समकालीन संदर्भ में ही समझी जा सकती हैं। नगेंद्र रचना को पुराने शास्त्र से सिद्ध करते हैं। शास्त्र का पल्ला पकड़ कर सर्जनशीलता को नहीं समझा जा सकता। पुनर्व्याख्या से व्याख्या संभव नहीं है। एक सीमा के बाद ज्ञान मात्र इतिहास हो जाता है।

नगेंद्र के अनुसार आधुनिक विचारक द्वंद्व पर बल देते हैं। द्वंद्व वाली कविता—नयी कविता—रस से सिद्ध नहीं की जा सकती, शमन वाली कविता की जा सकती है। वे कहते हैं, द्वंद्व तो प्रक्रिया में है, परिणति सामंजस्य में हो जाती है। इसलिए नयी कविता भी रस के अंतर्गत है। यह ग़लत है कि प्रक्रिया से बड़ी है निष्पत्ति। वस्तुतः मेरी दृष्टि में प्रक्रिया ही बड़ी है। निष्पत्ति तो समापन है। यह किसी भी कविता के लिए सत्य है। यह सही है कि यहाँ त्रासदी को महत्व नहीं दिया गया। यूरोप में द्वंद्ववाद विकसित हुआ। तो भी जो सत्य है, वह सार्वत्रिक है।

जगदीश जी ने नगेंद्र को संस्कृत-ज्ञाता की दृष्टि से अविश्वसनीय कहा है। यह ख़तरनाक रास्ता है। हम मार्क्स, सार्त्र और न जाने किन-किन का बड़े घरेलू ढंग से उल्लेख करते हैं और केवल उन्हें अंग्रेज़ी के माध्यम से जानते हैं। क्यों नहीं फिर मूल में पढ़ें। मूल भाषाएँ पढ़ कर तब उन्हें जानें। इसीलिए मैं कहता हूँ, यह ख़तरनाक रास्ता है। आक्षेप करना कोई अच्छी परंपरा नहीं है।

वि० दे० ना० साही ने डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शास्त्र की पुनर्व्याख्या के संबंध में किये गये कथन का विरोध किया। उन्होंने कहा : शास्त्र की पुनर्व्याख्या एक सीमा के बाद इसलिए झूठी नहीं पड़ती क्योंकि वह 'एप्रोच' है। अरस्तू के शास्त्र पर माइमेसिस का 'एप्रोच' है। नगेंद्र का रस-सिद्धांत उनका 'एप्रोच' है, शास्त्र नहीं। तब यह कहना उचित है कि 'एप्रोच' ही ग़लत है।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'एप्रोच' को उचित शब्द न मान कर 'सिस्टम' (पद्धति) को सही माना। शास्त्र की नयी व्याख्या की प्रक्रिया डॉ० चतुर्वेदी की दृष्टि में ग़लत है।

अंत में बालकृष्ण राव ने जगदीश जी को इतने परिश्रम और लगन के साथ निबंध लिखने पर बधाई देते हुए कहा कि 'विवेचना' के मूल उद्देश्य के साथ सिद्धांत-चर्चा की संगति और सार्थकता इसी में है कि चर्चा सिद्धांत के व्यावहारिक पक्ष पर हो, और आज की गोष्ठी में उसी पक्ष पर बल दिया गया। काव्य के आस्वादन और मूल्यांकन की पुरानी आधारभूमि की उपयुक्तता को देश-काल-निरपेक्ष सिद्ध करने का डॉ० नगेंद्र का प्रयास हमें मान्य हो या न हो, हमारा ज्ञानवर्द्धन करता ही है, इस दिशा में गंभीरता से सोचने की प्रेरणा देता ही है। यदि इसका महत्व केवल इतना ही हो तो भी यथेष्ट है।

—विवेचक

समीक्षाएँ



समयातीत

कांता का कविता-संग्रह। नवहिंद प्रकाशन, हैदराबाद। सन १९६४। मूल्य : ३.००।

'समयातीत' कांता जी की कविताओं का दूसरा संग्रह है। यों समीक्षा के दौरान इस तथ्य से विशेष संकुचित अनुभव न करते हुए भी शायद इतनी स्वीकारोक्ति समीक्षक की ओर से आवश्यक है कि उसने पहला संग्रह नहीं पढ़ा है। वैसे पत्रिकाओं के माध्यम से कवयित्री की अनेक रचनाएँ पिछले वर्षों के दौरान उसकी निगाह से गुज़री हैं, जिनमें से कई एक प्रस्तुत संग्रह में भी मौजूद हैं।

यह कहना कि ये कविताएँ एक नितांत निज़ी अंतर्जगत से संबद्ध हैं—व्यक्ति-मन के एकांत जीवन से ही प्रेरित और सीमित—कवयित्री की विशिष्ट संवेदना को भी परिभाषित करने के लिए अपर्याप्त है। किंतु शायद इसी कारण पाठक के किन्हीं आम या खास पूर्वग्रहों को भी पहले से ही अनुकूलित (शमित नहीं) कर लेने और उनका भी ज़रा अलग क़िस्म के काव्य के समुचित ग्रहण एवं आस्वादन की दिशा में भरसक उपयोग कर लेने की जो ज़रूरत महसूस होती है, उस नाते इस तथ्य को प्रारंभ में ही रेखांकित कर देने में कोई हर्ज़ नहीं। नयी कविता की हर मुद्रा चाहे वह आध्यात्मिक हो, चाहे अति बौद्धिक, चाहे व्यक्तिलिप्त और मनोवैज्ञानिक, हमारे इस युग की नब्ज़ है। स्थापित मूल्यों के निरंतर विघटन एवं उद्घाटित तथ्यों के अराजक अंबार से आक्रांत आज का संशयात्मा साहित्य एक जटिल परिस्थिति ढो रहा है। आज एक ओर जहाँ कवि की संवेदना इस चतुर्दिक आक्रांति के दबाव में अत्यंत विशेषीकृत होने को बाध्य है, वहीं दूसरी ओर उसकी बुद्धि का—कहूँ कि ज्ञानात्मक चेतना का—अधिकाधिक निर्विशेषीकरण भी उतना ही स्वाभाविक और अनिवार्य हो उठा है। भावना के स्तर पर आज भी चाहे व्यक्ति की चेतना में मीरा या सूर की-सी तन्मयता के संस्कार मौजूद हों, किंतु बुद्धि और अनुभूतिनिरपेक्ष अनुभव की यह दुर्निवार आक्रांति—'सतहें, सतहें, सतहें'—('अज्ञेय' की शब्दावली में) उस तन्मयता की शक्ति को कुंठित और संत्रस्त कर के चेतना को विभक्त कर देती है। और व्यक्ति अपनी ही अनुभूति से बिछुड़ने लगता है। एक अजीब साँसत में संवेदना फंस जाती है जहाँ व्यक्ति निरंतर आत्म-चेतना के फैलते-सिमटते दायरों में घुटते रहने की बाध्यता के बावजूद (या फलस्वरूप) कभी भी संपूर्णतः आत्म-चेतन नहीं हो पाता। चेतना जैसे स्व-रति का पर्याय बन कर रह जाती है और अभिव्यक्ति

उन दायरों में घुटती, उनको तोड़ती और फिर-फिर उनसे घिर जाती चेष्टाओं का दर्पण।

नयी कविता की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने प्रमुख कवियों की कविता को पाँच वर्गों में बाँटा है—यथार्थवादी अहंवाद, व्यक्ति-अभिव्यक्ति, व्यंग्य, रस-रोमांच तथा बिंबवाद। प्रस्तुत संग्रह की कविताओं को इनमें से किसी एक के अंतर्गत रखना हो तो कहा जा सकता है कि इनमें व्यक्ति-अभिव्यक्ति का ही प्राधान्य है। हालाँकि वर्मा जी ने जिन कवियों को इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधि बतलाया है, उनके साथ क्या भाषा, क्या संवेदना किसी भी स्तर पर शायद ही कवयित्री का कोई साम्य घटित हो सके। अंतर्जीवन की जिस दुर्बोध्य और विश्रृंखल संकुलता की तीखी चेतना में से ये कविताएँ निपजी हैं, उसकी अभिव्यक्ति उतनी तीखी और निस्संग नहीं हो पायी है। वस्तु जितनी व्यक्तिगत है, उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही स्वप्रेरित और स्वकेंद्रित। इसका आशय यह नहीं कि शिल्प में असंतुलन है। वास्तविकता तो यह है कि ये कविताएँ अधिकांशतः अनुभूति और अभिव्यक्ति का सहज संतुलन प्रस्तुत कर रही हैं। जटिल मनोदशाओं को सूक्ष्म अंतर्चित्रों द्वारा उद्घाटित करने में कवयित्री को खूब सफलता मिली है। नयी कविता के क्षेत्र में संप्रति जितनी कवयित्रियाँ काम कर रही हैं उनमें कांता जी निश्चय ही इस दृष्टि से अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। अवश्य ही सभी रचनाओं में स्तर का एक सा निर्वाह नहीं हुआ है। तो भी अधिकांश के संबंध में इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रेरणा, चाहे वह जीवंत आवेग की हो, चाहे गहरी कुंठा की, हमेशा अपना योग्य रूपाकार पा लेती है। भीतर की हलचल या घुटन जैसे अपने ही संपीड़न द्वारा शब्दों को स्वानुरूप ढालते चले जाते हैं। जिस लाघव के साथ कवयित्री का सूक्ष्म वेदन-तंत्र अंतर्मन के बारीक से बारीक स्फुरणों को अंकित करता चलता है, उसी अचूक लाघव के साथ उसके शब्द भी जैसे एक मौलिक अंतर्विवशता में उन अंकनों को यथावत अनूदित करते चले जाते हैं। वेदन-तंत्र और शिल्प-तंत्र जैसे एक ही यंत्र के दो परस्परावलंबित अंग—प्रेषक और ग्राहक हों।

उस एक क्षण में स्थिर हो गयी शाम
मैं पूर्ण
पूरा होने के बाद
अधूरापन और बढ़ गया :
आ :, यह समय को थाम
समय को व्यापता
अकेलापन !

आज सचमुच सूना है आकाश।

मुझे इस कविता को पढ़ते हुए १७वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी कवि और (आधुनिकों के आराध्य) जॉन डन की एक कविता—'लव्ज़ फिलासफी' याद आ रही है जिसकी अंतिम पंक्तियाँ. . .शायद ये थीं :

लव इज़ ए ग्रोइंग, ऑर फुल कांस्टेंट लाइट।
एंड हिज़ फ़र्स्ट मोमेंट आफ़्टर नून इज़ नाइट।

अतीत के युगों की मन-बुद्धि-समन्वित एकीकृत संवेदना के लिए किसी भी अनुभूति में रम कर उसको सांगोपांग रूपक की संपूर्णता में प्रत्यक्ष कर देना, दर्शन के रूप में उसका साक्षात्कार कर लेना सहज संभाव्य था; जैसा कि उदाहरण के लिए उनकी इस समूची कविता को पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा। किंतु आज की

खंडित चेतना के लिए यह उस तरह संभव नहीं रह गया है। आज का कवि तो अपनी पल-पल परिवर्तित, अहरह उच्छिन्न आंतरिकता के 'इनस्केप' को आँक कर ही 'आत्माभिव्यक्ति' का संतोष पाने की राह खोजता है। यह स्थिति चिंतनीय होते हुए भी एक हद तक अपरिहार्य है। हालाँकि नयी कविता के प्रमुख कवियों के विकास-क्रमको देखते हुए लगता है कि यह स्थिति एक अनिवार्य पड़ाव भले हो, असल मंज़िल **आज भी** उससे कहीं आगे होनी चाहिए और है। उनके कृतित्व से यह प्रमाणित है।

कांता जी की रचना अभी इस स्थिति से उबरने का संकेत नहीं देती। निकट भविष्य में दे पावेगी—यह भी नहीं कहा जा सकता। अभी उनमें बेतरह मानसिक उलझाव है; और उस उलझाव के प्रति एक निरीह स्वीकार भी। हाँ, कुछेक कविताओं में इस उलझाव के साक्षात्कार करने की चेष्टा जिन गहरे स्तरों पर व्यंजित हो सकी है, वह स्वयं में एक सिद्धि है। अवश्य ही अनुभूति का प्रज्ञा-पारदर्शन यहाँ नहीं मिलेगा। किंतु 'अनुभूत' के प्रति एक निभ्रांत, बल्कि अतिरिक्त आत्म-सजगता पग-पग पर मिलेगी। संकलपात्मक अनुभूति के नाम पर 'यथार्थ' के साथ खींचातानी कवि को बिलकुल अभीष्ट नहीं है। 'निस्तार चाहने' की कामना उसके लिए स्वाभाविक है; पर साथ ही आर-पार छाये धुएँ की अभेद्यता की आत्म-स्वीकृति भी उसके लिए उतनी ही अनिवार्य है। अनुभूति की यह गहरी ईमानदारी ही कवि की अभिव्यक्ति को पारदर्शी निर्मलता प्रदान करती है। 'अनात्मीयता' के आतंक को भी कवि की संवेदना इसी से सहज आत्मीय अभिव्यक्ति दे सकी है:

आकाश जैसे आकाश में डूब गया है
पृथिवी जैसे पृथिवी से दूर हो गयी है
मुझमें मेरी आत्मीयता
धुआँ बन उड़ गयी है
प्रतिक्षण लगता
मैं जैसे अपने से पृथक हो गयी हूँ।

अपने एहसास को अक्षुण्ण संप्रेषित करने की अंतर्विवशता ही जैसे कवि के लिए रचनाशीलता की शपथ है। उससे उबरने की उतावली नहीं है। और यह प्रक्रिया हमें आश्वस्त करती है। स्वयं कवयित्री के लिए इसकी सार्थकता का प्रमाण यह है कि सीमित भावबोध और अपेक्षाकृत एकरस कथ्य के बावजूद हर बार शिल्प की एक नयी भंगिमा उद्घाटित होती है। एक ही दृश्य-चित्र को कई -कई कोणों से देखा जाता है और हर बार कवि पाठक की संवेदना को एक नयी जगह पर स्पर्श करता है। इतना ज़रूर है कि कहीं तो अनुभूति के दबाव में अंतर्चित्र केंद्र में आ कर उजागर हो जाता है तो कहीं थोड़ी कसर के कारण धुँधला रह जाता है। दृष्टांत के लिए 'तेज़ हवा . . .' (पृष्ठ ३२) एवं 'दीये या मोमबत्ती की रोशनी...' (पृ० ५५) इन दो कविताओं की तुलना की जा सकती है।

यों तो छोटी कविताओं का सफल निर्वाह कवयित्री की विशेषता है, तो भी किन्हीं कविताओं में लगता है, जैसे कथ्य कुछ बिखर गया हो। ठीक उसी तरह, जैसे रवा बनते-बनते एकाएक घोल में से निकाल लिया गया हो या अपेक्षित सांद्रता के अभाव में बन ही न पाया हो। इस प्रकार का अनुभव मुझे संग्रह की कुछेक कविताओं को पढ़ते हुए हुआ—खासकर 'सिर्फ़ एक उदासी भरी हँसी', 'हाँ, चाहती हूँ,'

निस्तार चाहती हूँ', 'स्पंदित हो रही हैं साँसें आज', 'शहर जैसे जंगल', 'खुद अपने से भी प्यार नहीं' में।

एक खटकने वाली चीज़ जो इन कविताओं में विद्यमान है, वह है कुछ शब्दों की अत्यधिक पुनरावृत्ति। संग्रह की एक कविता 'घरों को छूता हुआ आकाश' पढ़ते हुए मुझे एक अजीब सी अनुभूति हुई। कविता बड़ी मार्मिक है और उसका शिल्प तत्काल हमारी संवेदना में रच जाता है; स्पंदित होने लगता है। पर जाने क्यों पढ़ने के बाद मुझे लगा जैसे अख़ीरी स्पर्श देते हुए एकाएक चित्र हिल गया हो। दूसरी बार पढ़ने पर प्रतीत हुआ कि इस अवांछित विक्षेप की ज़िम्मेदारी अंतिम दो पंक्तियों पर ही है :

आः मन को काटती हुई मृत्यु
क्षण भर टूट सकती अगर...।

हालाँकि यह नहीं कहा जा सकता कि ये पंक्तियाँ पूरी कविता के स्पंदन से विच्छिन्न हो गयी हैं। तो भी मैं समझता हूँ कि सिर्फ़ अकेली यह कविता कोई पाठक पढ़े तो उसे तब ये पंक्तियाँ उतनी नहीं खटकेंगी जितनी कि पूरे संग्रह के परिप्रेक्ष में इस कविता को पढ़ने पर। और पूरा परिप्रेक्ष तो महत्वपूर्ण है ही। उसके अभाव में अकेली कविता के साथ पूरा-पूरा न्याय नहीं किया जा सकता। तब वह विक्षेप कहाँ घटित होता है? मैंने पाया कि सिर्फ़ इस 'मृत्यु' शब्द की ही पुनरावृत्ति संग्रह की कम से कम पचीस कविताओं में हुई है और इस पुनरावृत्ति ने उसकी धार कुंद कर दी है। ऐसा ही मोह कवयित्री का 'धुंध' और 'अँधेरा' के प्रति भी प्रतीत होता है।

कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं—हालाँकि वे बहुत कम हैं—जहाँ बात को एकदम सतह से उठा कर सतह पर ही छोड़ दिया गया है जैसे 'जब ढाँक रही थी मन' और 'दो दो दो' शीर्षक कविताओं में। एकाध जगह ऐसा भी हुआ है कि एक बिंब की अनुभूति को पकड़ कर एक ही स्पर्श से कविता बना देने की उतावली की गयी है। इसके ठीक विपरीत हम देखते हैं कि बिना किसी बिंबाग्रह के बिना किसी शिल्पगत आत्म-चेतना के बड़े सादे ढंग से बात को कह कर ही मार्मिक प्रभाव की सृष्टि की गयी है जैसे उदाहरण के लिए 'मैं रात की पनाह में आयी थी' में।

संग्रह का शीर्षक बहुत सटीक है : हालाँकि जिस (संग्रह की अंतिम) कविता में यह शब्द आया है वह, संग्रह की अपेक्षाकृत असफल कविताओं में है। समापक पंक्तियों की सार-गर्भिता के बावजूद। यह ध्यातव्य है कि 'समयातीत' शब्द की व्यंजना को विशेषीकृत कर के ही हम उसकी उपयुक्तता के संबंध में आश्वस्त हो पाते हैं :

आः सुख खोजने गया था समय
स्वयं हो गया समयातीत।

समयातीत कौन? कवि नहीं,—बल्कि उसके 'मन के भीतर चलता समय।' अपने-आप से कट जाने, अपनी ही अनुभूति से बिछुड़ जाने की कितनी सूक्ष्म व्यंजना है! यह आकस्मिक नहीं कि 'समय' शब्द काफ़ी पुनरावृत्ति के बावजूद जहाँ कहीं प्रयुक्त हुआ है, अत्यंत मर्मसार्थक बन कर आया है। मसलन 'पृथ्वी को पैरों तले रौंदता' में या इससे भी अधिक सफल रूप में 'है भी, नहीं भी है' में। यह दूसरी कविता

वैसे भी संग्रह की महत्वपूर्ण कविताओं में है। आंतरिक अवबोध की सूक्ष्मता देखिए—'अर्थ की लय' से संयुक्त :

जरा देर के लगाव-सा
अपने आपसे टूट गया मन।
फिर भी
और कस गये
बंधन।

बड़ाऽ
बड़ा अजीब है ढब
समय का।

वस्तुतः देखा जाय तो संग्रह की हर कविता इसी 'समय के एक अजीब ढब' को पकड़ने का प्रयास है। समय ही इन रचनाओं पर आदि से अंत तक छाया हुआ है। पूरा संग्रह जैसे एक नाटक का एक अंक है और हर कविता उसका एक दृश्य। और हर दृश्य को फेंकता-समेटता समय। पात्र हैं—कवि के संवेदन जो उस निरपेक्ष सूत्रधार के हाथों पुतलियों की तरह गतिशील हैं। कभी-कभार अनायास अचानक ही वे हाथ शिथिल पड़ जाते हैं और वे मूर्तियाँ एक स्वतंत्र जिजीविषा से स्पंदित होने लगती हैं : जैसे 'उदास एक शांति लिये', 'सामने मुस्कराता गुलाब', 'अँधेरे कमरे में' इत्यादिक रचनाओं में। पर यह मोहलत टिकती नहीं। चेतना फिर-फिर उसी अंधी, अनबूझ गति में जकड़ जाती है। एडवर्ड टॉमस की एक पंक्ति याद आती है :

हाउ ड्रियरी स्विफ़्ट विद नाट टु ट्रैविल टु इज टाइम।

उसी तरह कवयित्री भी यात्रा के एक मोड़ पर पाती है कि :

समय तो बीता नहीं
फिर भी बीत गया
मुड़ कर देखता तो है,
पर देखता नहीं।
दोपहर-सी सूनी हो गयी
अलस्सुबह
पता नहीं यह जंगल
मुझमें है, या लोगों में ?

यह एक मूलभूत जिज्ञासा है। इसमें चाहे आत्मान्वेषण की गहराई प्रकट न हो, जगतगति के व्यापक अवबोध का भी कोई संकेत न उभरता हो, पर कवि के व्यक्तित्व के लिए वह निश्चय ही एक मौलिक महत्व का तत्व प्रश्न है। संग्रह की कई कविताओं में इस प्रश्न की बेचैन छटपटाहट है। पर क्या उस छटपटाहट में से कोई दृष्टि उभर पायी है ? या सिर्फ़ वह प्रश्न ही तीखा हो कर चेतना में स्पष्ट हुआ है ?

यह एक सवाल है जो इस संग्रह का हर सजग अध्येता कवयित्री से पूछना चाह सकता है। साथ ही यह भी कि क्या इस सवाल की चुनौती स्वयं कवयित्री के निकट भी उतनी ही प्रासंगिक और प्रखर है ?

अगर हाँ, तो 'समयातीत' के कोहरे को काट कर सांप्रत और चिरंतन के बीच नये सार्थक रिश्तों की खोज और 'मन को काटने' वाले समय के बीच ही मानव-व्यक्तित्व की प्राण-प्रतिष्ठा करने वाली कविता के उन्मेष की प्रतीक्षा की जा सकती है। शमशेर की एक कविता याद आ रही है :

रिक्त रक्तिम हृदय आँचल में समेटे
घिरा नारी-मन उचाटों में
भूल-धूमिल जाल मानस पर लपेटे
नागफन के धूल काँटों में
खड़ी विजड़ित चरण. . .संध्या मूल प्राणों की
छाँह जीवन वन-कुसुम की स्थिर।
(वास्तव को स्वप्न ही परसा करेगा क्या?)

—रमेशचंद्र शाह,
अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग, गवर्नमेंट
डिग्री कॉलेज, सीधी (म० प्र०)

मुझमें जो शेष है

उदयशंकर भट्ट का कविता-संग्रह। आत्माराम एंड संस, दिल्ली। सन १९६५। मूल्य : २.५०।

इस पुस्तक की भूमिका में लेखक ने अपने को केवल मानवतावादी कवि न मान कर और भी कुछ माना है। कम से कम इस काव्य-संग्रह में भट्ट जी की कविताएँ अनेक आयामों को छूती हैं, जिसमें सबसे प्रमुख स्वर आधुनिक जीवन की विडंबना तथा ढहते हुए प्राचीन प्रतिमानों का स्वर है। इसके अतिरिक्त यह भी माना जा सकता है कि कवि का अंतर्लोक मानवतावादी दृष्टि को त्याग नहीं सका है, जो मेरे विचार से एक शुभ तत्व है। यही कारण है कि 'महात्मा गांधी', 'अमृत पुत्र', 'संत', 'ऋत-पुरुष' आदि कविताएँ, इसी दृष्टिकोण को ले कर लिखी गयी हैं। विषय की दृष्टि से इन कविताओं में कोई विशेष नवीनता नहीं है क्योंकि इनमें प्रशस्ति तथा भावी मानव की कल्पना प्राप्त होती है।

अन्य कविताओं में कवि की दृष्टि अधिक पैनी तथा गंभीर है। उनमें आत्मनिष्ठता का स्वर प्रमुख है, जो आधुनिक जीवन की विडंबना तथा विश्रृंखलता को अनेक बिंबों तथा प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त करता है। उदाहरण-स्वरूप 'ज़िंदगी और कूड़ा-कर्कट', 'साँप और मैं' तथा 'विद्रोही' (पृ० ५३) कविताओं में जीवन की निरर्थकता तथा व्यक्ति की अर्थ-हीनता के सुंदर दर्शन होते हैं। यथा :

तुम्हारे लिए सारे तत्वज्ञान
काव्य के संदेश
महाप्राण का आवाहन

× ×

व्यर्थ है, व्यर्थ है
(केवल मनोविनोद
माया-जाल है; भ्रम है)
इसीलिए मैं व्यर्थ हूँ
व्यर्थ हूँ।

(विद्रोही पृ० ५३-५४)

ऐसी कविताओं में अनास्था का स्वर होते हुए भी कवि की दृष्टि उस अनास्था में आस्था का स्वर भी देता हुआ प्रतीत होता है। इस बिंदु पर आ कर कवि कहीं अधिक आशावादी भी हो गया है। कुल मिला कर इस संग्रह की उपर्युक्त कविताएँ तथा अन्य कविताएँ पाठकों को एक नया भावबोध देने में अवश्य समर्थ होंगी। यहीं पर कवि व्यक्तिनिष्ठता के दायरे में न बँध कर, अपने अस्तित्व के प्रति, जिसे उसने कभी नहीं पहचाना था

('मैंने नहीं पहचाना', पृ० ३१–३२), उसे पहचानने का भी प्रयत्न करता हुआ प्रतीत होता है।

एक वर्ग अन्य कविताओं का भी है, जिनकी संख्या सीमित है। वह वर्ग है चीनी आक्रमण तथा राजनीतिक प्रभावों का। 'मृत्युभक्षी भारतीय हम' नामक कविता में उपर्युक्त राजनीतिक संवेदना का रूप प्राप्त होता है जो अहं तथा गर्व की भावना (?) से कुछ अधिक बोझिल है। इसी प्रकार 'बलिदान का गीत' (पृ० ६७) तथा 'पुण्य-प्रशस्ति' में देश की गरिमा तथा त्याग के आवाहन का जो स्वर है, वह भी समयानुकूल है।

इस काव्य-संग्रह में भाषा का रूप आधुनिक जीवन के भावबोध को व्यक्त करने में सफल है, परंतु दूसरी ओर अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिनमें भाषा तत्समप्रधान है और उसमें वह लचीलापन तथा छटपटाहट नहीं है, जो आधुनिक जीवन की विडंबना से संबंधित कविताओं में है। 'ज़िंदगी और कूड़ा-कर्कट' कविता में ऐसी ही भाषा का रूप मिलता है, जिसमें बिंब-विधान भाषा को और भी निखार दे देता है।

काल की बुहारी से साफ़ किये जाने पर
झुक कर हवा के साथ
बेबस—
नवाये माथ
सूम के मंसूबे से
अनचाही जिंदगी की तरह।

(पृ० ३)

इस प्रकार भट्ट जी की काव्य-भाषा में एक नया लोच प्राप्त होता है।

—वीरेन्द्र सिंह
१४३ सी, सूर्य मार्ग,
तिलक नगर,
जयपुर।

बीजुरी काजल आँज रही

माखनलाल चतुर्वेदी का काव्य-संग्रह। भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी। सन् १९६४। मूल्य: ३.००।

काव्य-ग्रंथो में विविध प्रकार की रचनाओं के संकलन की परिपाटी है। इस दृष्टि से माखनलाल चतुर्वेदी के इस संग्रह में थोड़े भिन्न पथ का अनुसरण किया गया है। ये गीत शुद्ध प्रकृति-वर्णन से संबंध रखते हैं। इसी को लक्ष्य कर के कवि ने भूमिका में कहा है, **प्रस्तुत कविता-संग्रह में प्रकृति की पूजा की गयी है।** 'निराला' जी के समान माखनलाल जी भी ओज और कोमलता के कवि हैं। अपने जीवन के अंतिम चरण में जैसे 'निराला' जी प्रार्थनापरक गीतों की ओर मुड़ गये थे, वैसे ही चतुर्वेदी जी प्रकृति-पूजा की ओर झुक गये हैं। इसमें संदेह नहीं कि परम चेतन के समान प्रकृति की गोद भी संघर्षप्रिय साहित्यकारों को शांतिमयी प्रतीत होती है। इस प्रकार इन रचनाओं की प्रेरणा बड़ी है, भाव-भूमि व्यापक है और प्रभाव कुल मिला कर सात्विक सिद्ध होता है।

हिंदी में प्रकृति-वर्णन का इतिहास मात्र इतना है कि आदि काल में वह उपेक्षित रही, भक्ति-काल में आध्यात्मिक भावों के लिए प्रयुक्त हुई और रीति-काल में अलंकरण का माध्यम बनी। केवल आधुनिक युग में उसकी स्वतंत्र सत्ता घोषित हुई। इसके अंतर्गत उसे जड़ न मान कर चेतन स्वीकार किया गया। उसका मानवीकरण हुआ, यहाँ तक कि कवियों ने उसके प्रति आत्म-समर्पण तक किया। बीसवीं शताब्दी का शायद ही कोई ऐसा कवि हो, जिसने स्फुट रूप से प्रकृति के संबंध में कुछ न कुछ न लिखा हो; लेकिन जहाँ तक शुद्ध प्रकृति-वर्णन का संबंध है, उसके लिए दो ही कवियों को विशेष ख्याति मिली— भव्य एवं गरिमापूर्ण वर्णन के लिए सुमित्रानंदन पंत को और सरल तथा साधारण रूप के अंकन के लिए गुरुभक्त सिंह को। माखनलाल चतुर्वेदी की स्थिति इन दोनों कवियों के बीच की है। उनके विषय साधारण हैं, लेकिन चित्रण अत्यधिक भावप्रवण।

प्रकृति को इन्होंने बहुत व्यापक दृष्टि से देखा है, यद्यपि यह व्यापकता काव्य में प्रसिद्ध विषयों तक सीमित है। ये विषय चिर परिचित हैं जैसे धरती, आकाश, पर्वत, नदी। झरना, ऋतुएँ, फूल, पवन, पत्ती आदि। भाव का संबंध जहाँ कुछ गहरा है, वहाँ ये वस्तुओं के नाम भी लेने लगते हैं जैसे पहाड़ों में विंध्याचल और नदियों में बेतवा तथा नर्मदा के। इनकी प्रकृति सामान्य रूप से सुंदर, चेतन और भावमयी है। उदाहरण के लिए फूल का यह वर्णन लीजिए जो विलक्षण न होने पर भी रम्य है—

कुसुम हैं ये
या कि ऋतुओं के चरण के रूप हैं।

समय-श्रम पर खिल रहीं लुनाइयाँ ये,
बेछुपी-सी छुप रहीं अँगड़ाइयाँ ये,
प्रकृति की अनपाइयों-सी पाइयाँ ये,

शीश पर रह कर हिले—
छवि-भूप हैं ये।
कुसुम हैं ये
या कि ऋतुओं के चरण के रूप हैं ये।

इनके प्रकृति-वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि उसे ये संबंधित वस्तुओं के उल्लेख तथा वातावरण-अंकन द्वारा विश्वसनीय बनाने का पूरा प्रयत्न करते हैं। गाँव का वर्णन करेंगे, तो गाय-बैल, ग्वाला-ग्वालिनी की चर्चा होगी; जंगल के चित्र में बेर-बबूल के साथ सर्प और बंदर का उल्लेख होगा और नदी की ओर दृष्टि उठायेंगे, तो माँझी नाव खे कर पार की ओर जाता दिखायी देगा। इससे इनके ये वर्णन गतिशील और सजीव हो उठे हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं की विशेष उलझन उनके अभिव्यक्ति पक्ष को ले कर है। जहाँ इनके विषय ग्राह्य हैं, विचार उन्नत, भाव गंभीर और कल्पना कोमल, वहाँ कला समय के साथ विकसित नहीं हो पायी। इनका रूप-विधान ऊबड़-खाबड़ है। सच पूछिए, तो इसी ने इनके अधिकांश काव्य-सौंदर्य को दबा रखा है। भाषा इनकी खिचड़ी है। एक ओर संस्कृत के शब्दों का यत्र-तत्र का प्रयोग है, तो दूसरी ओर अरबी-फारसी के ऐसे शब्द भरे पड़े

हैं, जिनसे हिंदी के कवियों को अब अपना गला छुड़ाना चाहिए—उदाहरण के लिए **ज़ालिम, गुस्ताख़, यार, दिलदार, अदा, नज़र, महफ़िल, मेहरबानी, इबादत, क़दर, ग़रीब, ग़ायब** आदि। इस संस्कृत-फ़ारसीमिश्रित भाषा से जब तद्‌भव, ग्रामीण और विकृत शब्दों का प्रयोग होता है, व्रजभाषा का झोंक लगाया जाता है, मनमाने ढंग पर बहुवचन बनाये जाते हैं, तो अभिव्यक्ति उभरने के स्थान पर लुंज-पुंज हो जाती है। इनकी रच-, नाओं में **ऊगा**, और **आगो**, **उट्ठे** और **लिक्खे**, **दूख** और **धूली**, **पैयाँ** और **लटकनियाँ**, **चाँदनियाँ** और **पंखिनियाँ**, **पहिरन** और **बरसन** आदि के प्रयोग देख कर पाठक की चेतना मूर्च्छित सी होने लगती है। कहीं-कहीं इनके उपमान एकदम पुराने ढंग के हैं, जैसे **ग्रीष्म** की तुलना इन्होंने **मुनीम**, **बादल** की **भिश्ती** तथा **चंद्रमा** की **लालटेन** से की है। इससे बच्चों का मनोविनोद होता हो तो होता हो।

काव्य के क्षेत्र में माखनलाल चतुर्वेदी की स्थिति कुछ विलक्षण सी है। जन्म उनका भारतेन्दु-युग में हुआ, लिखना उन्होंने छायावाद-युग में प्रारंभ किया और ग्रंथ उनके प्रयोगवादी युग में प्रकाशित हुए; लेकिन संस्कार उनके द्विवेदी-युग के हैं, राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने और अपनी रचनाओं द्वारा उसे बल प्रदान करने के कारण उनका अपना एक व्यक्तित्व है और उसी के अनुकूल महत्व भी, उनकी प्रेम-भावना लौकिक ढंग की ही है; यद्यपि उसमें कहीं-कहीं वैष्णव-भाव के पुट के कारण एक प्रकार की दिव्यता की झलक दिखायी देती है। प्रकृति के प्रति झुकाव नैसर्गिक और निश्छल है। इस प्रकार श्री माखनलाल चतुर्वेदी को हम प्रलय, प्रणय और प्रकृति का कवि कह सकते हैं।

—विश्वम्भर 'मानव',
८८८, कल्याणीदेवी,
इलाहाबाद-३।

प्रतिनिधि रचनाएँ
(मराठी : दो)

ना० सी० फड़के की काव्य-पुस्तक। भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। सन १९६४। मूल्य : ४.५०।

इधर मराठी की विभिन्न रचनाएँ हिंदी में अनूदित हो कर आयी हैं। किसी भाषा के साहित्यिक व्यक्तित्व को जानने-मानने के लिए इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि उस साहित्यकार का लेखन, विभिन्न विधाओं का लेखन, कहीं एक जगह संकलित किया जावे। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञानपीठ का उक्त प्रकाशन मूल्यवान है, जिसमें मराठी के वरिष्ठ साहित्यकार श्री ना० सी० फडके का विभिन्न विधाओं का लेखन संकलित किया गया है।

मराठी कथा-साहित्य के पाठक, फड़के जी का नाम आते ही श्लील-अश्लील की बात उठाने लगते हैं। एक मासिक पत्रिका को ले कर इधर इस विषय का मामला कचहरी तक जा पहुँचा था जिसमें फड़के जी ने स्वयं पैरवी कर साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न बेबुनियाद सिद्ध कर दिया था। मराठी के ऐसे साहित्यिक, जिन्होंने साधना और लगन से साहित्य-सर्जना की, जिन्होंने अपनी अनोखी प्रतिभा से, सर्जनात्मक शक्ति से मराठी

कथा-साहित्यकी अभिवृद्धि की—ऐसे साहित्यकार ना० सी० फडके से हिंदी जगत परिचित हो—इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का अत्यधिक महत्व है।

संकलन में फड़के जी की विभिन्न रचनाएँ—चार कहानियाँ (सात रुपये दस आने, धूप और छाँह, पार्वती, कश्मीरकी कहानी), एक उपन्यास का अंश (इशारा), एक एकांकी (आग), तीन ललित निबंध (सर्कस् का खेमा, अलगनी पर सूखने वाले कपड़े, ताला-चाभी), एक शब्द चित्र (सिक्सरों के बादशाह : सी० के०) दो यात्रा-संस्मरण (कथाकली के नैहर में, सारनाथ) दो प्रबंध के अंश (प्रतिभा साधना, कहानी लेखन :-मंत्र और तंत्र) संकलित हैं।

प्रकाशकीय वक्तव्य में सभी रचनाओं को प्रतिनिधि घोषित किया गया है। मेरे विचार से 'ख्यातिप्राप्त लेखकों की बहुमुखी साहित्यिक प्रतिभा से परिचित होने के लिए' (वाक्य प्रकाशकीय वक्तव्य से साभार) इस बात की आवश्यकता थी कि फड़के साहित्य के किसी समीक्षक से प्रतिनिधि रचनाओं का चयन करवाया जाता और फड़के जी पर एक विशेष परिचयात्मक लेख, उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को ले कर लिखवाया जाता। संकलन की रचनाओं का संपादन किसने किया है? यदि मूल लेखक ही संपादक है (यदि 'लेखक का स्वसंकलन' से यह ध्वनि निकलती हो) तो प्रतिनिधि रचनाएँ मूल लेखक द्वारा चुनी गयी हैं—फिर 'प्रतिनिधि' और 'चुनी हुई' रचनाओं में अंतर होता है। प्रश्न यह रहता है कि लेखक स्वयं अपनी रचनाओं में से किसे प्रतिनिधि मानता है, और समीक्षक किसे? फड़के जी के कथा-साहित्य में एक चुलबुलापन, एक अजीब गहरी मादकता और रंगीनियत रहती है। प्रतिनिधि कहानियों में इस तरह की एक भी कहानी नही ली गयी, अच्छा होता यदि उनकी 'वत्सला' अथवा 'शांता' कहानी भी संकलित की जाती। उपन्यास का १४ पृष्ठों का अंश मात्र संकलित करना अजीब सा लगता है। आवश्यकता इस बात की थी कि उनका कोई लघु उपन्यास पूर्ण संकलित किया जाता। फड़के जी के उपन्यास विशेष रूप से प्रसिद्ध रहे हैं—उपन्यास के अंश मात्र से उनके 'औपन्यासिक कला' का ज्ञान तनिक भी नहीं हो पाता।

एकांकी, निबंध, यात्रा-संस्मरण आदि का चयन सुंदर किया गया है। श्री फड़के के व्याख्यान के अंश और कुछ कविताएँ भी प्रकाशित की जातीं तो फड़के जी का समग्र साहित्यिक व्यक्तित्व झलक उठता।

समस्त रचनाओं का अनुवाद श्री माणिकलाल परदेशी ने किया है। फड़के साहित्य के एकमात्र अनुवादक परदेशी जी ही हैं। अनुवाद-कार्य कठिन कार्य है। समस्त रचनाओं का अनुवाद बहुत ही सुंदर हुआ है। भाषा-प्रवाह, मूल लेखक की भावना, मुहावरों का प्रयोग—सभी दृष्टि से मुझे अनुवाद खूब पसंद आया। एकांकी और निबंधों का अनुवाद अपेक्षाकृत कठिन होता है, परंतु परदेशी ने उनका अनुवाद भी अच्छा किया है। लगता है कि परदेशी जी अनुवाद-कार्य में माहिर हैं। इस पर भी कुछ वाक्यों में भाषा संबंधी दोष खटकने वाले हैं। उदाहरणार्थ:

(१) पृष्ठ २० पर: वाक्य इस प्रकार है: **उसे हुआ कि उन सबको जो मारकर गालियाँ देवे।** यहां **उसे हुआ** प्रयोग समीचीन प्रतीत नहीं होता। मराठी में **त्याला वाटले** की प्रयोग उपयुक्त

है पर हिंदी में उसका अनुवाद **उसे हुआ** ठीक नहीं है।

(२) पृष्ठ ८१ पर : वाक्य इस प्रकार है : **तेज रोशनी से सड़कों पर के खड्डे दिखायी दे रहे थे। खड्डे** शब्द मराठी का है। मेरे विचार से सामान्यतः **खड्डे** शब्द हिंदी में प्रचलित नहीं हैं। इसके स्थान पर **गड्ढे** शब्द उपयुक्त था।

एकांकी में संवादों के अनुवाद में विशेष सजगता की आवश्यकता रहती है। पृष्ठ ९५ पर संवाद इस प्रकार है :

मीरा . पिता जी की मेज में हमेशा कैंची रहती है इसलिए दराजें छान मारीं लेकिन कम्बख्त मिल ही नहीं रही है। कहाँ रखी है ? अब दीजिए मुंशी जी, आप ही ढूँढ़ कर।

यहाँ स्थिति यह है कि दोनों बहनें मुंशी जी से अपना काम निकलवाना चाहती हैं, इसलिए अंतिम वाक्य अनुवाद रूप में इस प्रकार होना समीचीन था : **अब जरा आप ही ढूढ़ दीजिए न।**

निस्संदेह कुल मिला कर अनुवाद बहुत ही सुंदर हुआ है—इसमें दो मत नहीं हो सकते।

भारतीय ज्ञानपीठ का प्रस्तुत प्रतिनिधि संकलन अपनी सामग्री और साज-सज्जा में ठीक ही बन पड़ा है। वास्तव में आज ऐसे महत्वपूर्ण प्रकाशन की अत्यंत आवश्यकता है। ज्ञानपीठ का यह कार्य सराहनीय और अनुकरणीय है।

—विजय बापट,
हिंदी विभाग,
माधव महाविद्यालय, ग्वालियर।

हिंदी पर्यायों के अध्ययन की दिशा में प्रथम प्रयास

हिंदी पर्यायों का भाषागत अध्ययन

- पर्यायों की परिभाषा क्या है?
- पर्यायों की उपादेयता क्या?

इन दो प्रमुख प्रश्नों के उत्तर निहित हैं इस ग्रंथ में।

ग्रंथ की कतिपय विशेषताएँ

- हिंदी पर्यायों की पर्यायवाचकता की कोटियाँ
- हिंदी पर्यायों के उद्भव और विकास पर चिंतन
- व्याकरणगत विभिन्न भेदों में प्रवाहित शब्द-स्रोत
- पर्यायों के मुख्य क्षेत्र
- पर्यायों की परिणति
- पर्यायों के विवक्षागत अंतरों के प्रस्थापन
- पर्यायवाचकता का आधार

मूल्य ७.००

लेखक

डॉ० बदरीनाथ कपूर

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा भावात्मक

एकता

के

'माध्यम'

का

केरल विशेषांक

[मई, १९६६ में प्रकाश्य]

कुछ प्रमुख सामग्री

- केरल की समसामयिक काव्यधारा, कथा-साहित्य, नाट्य-विधा, लोक-संस्कृति, शिल्प और कला।
- केरलीय समाज-परंपरा और प्रचलन।
- केरल की संतधारा, धर्म, दर्शन, ज्योतिष तथा तंत्र-मंत्र।
- केरलीय संस्कृत साहित्यकारों की देन।
- मलयालम भाषा और लिपि का परिचय।
- मलयालम कविताएँ, कहानियाँ तथा अन्य विधाएँ।

कुछ प्रमुख लेखक

सर्वश्री ए० चंद्रहासन, वी० आर० नारायणन नायर, वी० रा० जगन्नाथन, एम० ए० ऊमेन, एम० जार्ज, जी० गोपीनाथन्, पी० नारायण, अब्राहम जेकब, एस० वेंकट सुब्रह्मण्य अय्यर, विश्वनाथ अय्यर, किलिमानूर एन० विश्वंभरन्, टी० भास्करन्, ए० श्रीधर मेनन, के० नारायणन्, एन० चंद्रशेखरन् नायर, वी० ए० केशवन नंपूत्तिरि, आर० रामन नंपूत्तिरि, एन० पुरुषोत्तम मल्लय्या, रवि वर्मा, रामचंद्र देव, जी० शंकर कुरुप्पु, पी० कुंजुरामन नायर, वेलोप्पिल्लि श्रीधर मेनन, अक्कित्तम अच्युतन नंपूत्तिरि, तकाषी शिवशंकर पिल्ला, श्रीमती बालामणि अम्मा तथा सुगत कुमारी

केरलीय साहित्य, संस्कृति, कला और दर्शन
का अवश्य पठनीय तथा संग्रहणीय संदर्भ-ग्रंथ

संपादक : बालकृष्ण राव

मूल्य : १ अंक : १.०० : वार्षिक : १०.०० । प्रस्तुत अंक : २.५० ।

संपादकीय
पो० बॉ० नं० ६०,
इलाहाबाद।

संपर्क-सूत्र

व्यवस्थापकीय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
इलाहाबाद।

ज्ञानोदय

•

सम्पादक

लक्ष्मीचन्द्र जैन : रमेश बक्षी

आधुनिक भावबोध, कला-संचेतना और नवीनता का प्रतिनिधि मासिक

'कथा-मंच : विशेष परिशिष्ट' के बाद मार्च १९६६ का साधारण अंक

अब नये स्तंभ

- समय-बोध ० मुक्त चिंतन ० ताज़े संदर्भ
- साहित्य-भूमि ० नयी कला
- प्रश्नान्तक ० तारीखें

विशेष शीर्षक

- संवाद—माईकेल एंजिलो : साये बढ़ रहे हैं...
- मलयाली वंशी—सप्तक : शंकर कुरुप्पु की कविताएँ
- अंतर्राष्ट्रीय राम-झरोखा : नयी कला
- सोवियत कवि के घर एक शाम : एक गोष्ठी
- घायल दिशाओं में टूटे हुए आकाश की तलाश : सन पैंसठ की कविता
- कैकेयी का आत्मनिवेदन : तीखा व्यंग्य

कहानियाँ : स्व० मुक्तिबोध की लंबी कहानी 'विपात्र' के साथ ही कर्तारसिंह दुग्गल, पानू खोलिया, हिमांशु जोशी तथा बटरोही की कहानियाँ।

कविताएँ : बच्चन। अंचल। रामदरश मिश्र। कैलाश वाजपेयी। रणजीत। निर्मला वर्मा। देवदत्त। नीलम सिंह। ऋतुराज। विनय दुबे।

अन्य स्तम्भों के साथ ही : हरिभाऊ उपाध्याय, वीरेंद्र अग्रवाल, कोलिन विलसन की रचनाएँ भी...

•

एक प्रति : एक रुपया : : वार्षिक दस रुपये

संपादकीय कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता – २७
वितरण-केंद्र : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी
प्रमुख वितरक : बेनेट कोलमैन एंड कंपनी लि० बंबई – १

नटरंग	भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक

संपादक : नेमिचंद्र जैन

रंगमंच और साहित्य क्षेत्र के सभी विचारक और कर्मी एक स्वर से सहमत हैं कि 'नटरंग' का प्रकाशन हिंदी जगत की एक अभूतपूर्व घटना है। तीन अंक प्रकाशित हो चुके हैं; चौथा अंक समकालीन भारतीय रंगमंच पर विशेषांक होगा। उसकी योजना इस प्रकार है:

रचनाएँ

बंगला, मराठी, उड़िया के व्यावसायिक रंगमंच का सर्वेक्षण ० हिंदी रंगमंच और निर्देशक ० बंगला और मराठी रंगमंच पर अभिनय-शैलियों का विकास ० बहुरूपी : एक अनोखा नाट्य-संगठन ० गुजराती रंगमंच और लोकप्रिय प्रदर्शन ० मलयालम नाटकों में समसामयिक समस्याओं का चित्रण और कला-मूल्य ० पंजाबी अ.पेरा : उपलब्धियाँ और समस्याएँ ० समकालीन कन्नड़ नाटक ० उर्दू का नाट्य-साहित्य ० तमिल रंगमंच पर दृश्य-सज्जा संबंधी परिवर्तन ० असमिया रंगमंच पर लोक-रंगमंच का प्रभाव ० लोक-नाट्य की वर्तमान स्थिति : जात्रा, तमाशा, नौटंकी, यक्षगान, कुचीपुडी ० विश्वविद्यालय और रंगमंच ० प्रचारात्मक रंगमंच ० नाटकघरों की समस्या ० भ्रमणशील नाटक-मंडली : समस्याएँ और संभावनाएँ ० रंगमंच की नैतिकता ० आधुनिक भारतीय रंगमंच की टेक्निकल आवश्यकताएँ, महानगरों का अंग्रेज़ी रंगमंच ० अभिनेताओं से भेंट ० संस्मरण ० पुस्तक-समीक्षा ० नाट्यवृत्त, आदि।

लेखक

शंभु मित्र० ई. अल्काज़ी० सुरेश अवस्थी० आद्य रंगाचार्य० कुमार राय० ध्रुव गुप्त० के० के० मुखर्जी० शांता गांधी० परितोष गार्गी० अमरनाथ पाठक० मोहम्मद हसन० श्यामानंद जालान० ज्ञानेश्वर नाडकर्णी० मोहन महर्षि० गुलशन कपूर० बृजमोहन शाह० के. नारायण स्वामी० यशवंत केलकर० के. बी. सुब्बन्ना० के. एस. कुरुप० के. बी. राजगोपाल० चंद्रवदन मेहता आदि।

वार्षिक शुल्क १०.०० : विशेषांक ४.०० : एक अंक २.५०

३ एफ़, जंगपुरा ऐक्सटेंशन, नयी दिल्ली--१४
फ़ोन : ७०१६२

मुद्रक तथा प्रकाशक : रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

रजिस्टर्ड नं० एल० २११७